



सद्गुरवे नमः

को हिन्दू को तुरुक कहावै,
एक जिमी पर रहिये

—सन्त कबीर



पछापछी के कारने, सब जग रहा भुलान।

निर्पक्ष होय के हरि भजै, सोई संत सुजान॥ बीजक, साखी 1 8॥

वर्ष 46]

इलाहाबाद, चैत्र, वि सं 2074, अप्रैल 2017, सत्कबीराब्द 618

[अंक 4

आतमराम में सोना सही है

जो चमकता दिख रहा है, विविध दृश्यों का नजारा।
मोहते हो, चिपकते हो, वह विकारी खाक सारा॥ 1 ॥
फांकते ही खाक जीवनके, असंख्य प्रवाह बीते।
प्राप्ति के धोखे में उलझे, आज तक ही रहे रीते॥ 2 ॥
जो जगत से स्वयं को भरने की, इच्छा राखता है।
वह सदैव अभाव के अनुभव का, विष-रस चाखता है ॥ ॥
जगत नंगा है सदा, वह कब तुम्हें संतोष देगा।
जगत-इच्छा-त्याग ही, विश्राम औ परितोष देगा॥ 4 ॥
क्यों भटकते फूल-फल, सेमल की मिथ्या लालिमा में।
देह बुद्धी रख विषय की, वासना की कालिमा में॥ 5 ॥
आज तक हैं भटकते बीते, सभी दिन वासना में।
परिणाम उसका भोगते आये, भयंकर शासना में॥ 6 ॥
कब मिला विश्राम, दुनिया की हवस में भागने से।
कब हृदय संतोष पाया, भोग में अनुरागने से॥ 7 ॥
दृश्य सारा बुलबुले वत, बन बिगड़कर लुप्त होता।
प्राणियों का दल चमककर, देखते ही गुप्त होता॥ 8 ॥

राग-रंग के समां को, फूल की शय्या समझना।
ज्योति दीपक में पतिंगेवत, विमोहित हो उलझना॥ 9 ॥
बहुत आकर्षक समझते, युवक युवती के नजारे।
पर वस्तुतः वे दुखों से पूर्ण हैं, मल के पिटारे॥ 10 ॥
दावाग्नि राग रु द्वेष में, प्राणी झुलसते आ रहे हैं।
कब इन्हें विश्राम मिलता, कब चैन-सुख पा रहे हैं॥ 11 ॥
भोग औ स्वामित्व की, जब तक न इच्छा छूटती है।
तब तक न राग द्वेष की, फांसी गले की टूटती है॥ 12 ॥
राग-द्वेष-विहीन होने पर, परम विश्राम होता।
देह का अभिमान खोकर, आत्मा में आप सोता॥ 1 ॥
देखने सुनने औ पाने की, सभी जब चाह मिटती।
तब जगत-प्रपंच से मन, लौटकर वृत्ती सिमिटती॥ 14 ॥
देह दुनिया छूट जाती, आप अपने में बसेरा।
हृदय की अज्ञान अंधियारी, मिटी तब ही सबेरा॥ 15 ॥
झूठ है संबंध सारा, अंत में होना यही है।
त्यागकर जड़ हृदय, आतमराम में सोना सही है॥ 16 ॥



परम प्रभु अपने ही उर पायो

एक बड़ी प्रसिद्ध और प्यारी कहानी है। एक दिन शाम के समय एक वृद्धा मां घर के बाहर सड़क पर बड़ी व्यग्रता से कुछ खोज रही थी। कुछ लोगों ने देखा तो पूछा—मां, क्या खोज रही हो? वृद्धा ने कहा—बेटा, सुई खो गयी है, उसे ही खोज रही हूँ। वे लोग भी खोजने लगे। जब काफी देर खोजने के बाद भी सुई नहीं मिली तब उन लोगों ने पूछा—मां, सुई कहां गिरी है, कहां खोई है? वृद्धा ने कहा—बेटा, सुई तो घर में गिरी है। लोगों ने हैरानी व्यक्त करते हुए कहा—मां, जब सुई घर में गिरी है तब बाहर सड़क पर क्यों खोज रही हो? “इसलिए कि घर में अंधेरा है और यहां बाहर सड़क पर बत्ती जल रही है।” लोगों ने कहा—मां, यदि सुई घर में गिरी है तो घर में ही बत्ती जलाकर उसे घर में ही खोजना होगा तभी वह मिलेगी। बाहर सड़क पर चाहे कितनी भी बत्ती क्यों न जले, सुई बाहर नहीं मिलेगी, चाहे उसे जीवन भर खोजते रहें।

यही दशा लोगों की है। ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा, खुदा, गॉड, शांति, मोक्ष, नाना नाम रखकर जिसे लोग बाहर खोज रहे हैं वह घट-भीतर हृदय में ही विराजमान है, हर व्यक्ति का अपना आपा है, परंतु उसे न समझकर बाहर खोज रहे हैं, बाहर भागे जा रहे हैं। मंदिर, मस्जिद, गिरजा, मठ-आश्रम में दीये जला रहे हैं, जबकि अंधकार घट-भीतर है। लोग यह नहीं समझ पा रहे हैं कि मंदिरों में बैठे भगवानों को दीये की, प्रकाश की जरूरत नहीं है। दीये की, प्रकाश की जरूरत तो हृदय-स्थित भगवान को है। इसलिए अपने घट-भीतर ही विवेक-ज्ञान का दीया जलाना होगा। बाहर मंदिरों में दीया जलाना तो एक प्रतीक है कि जिस प्रकार हम बाहर दीया जला रहे हैं उसी प्रकार घट-भीतर भी विवेक-ज्ञान का दीया जलायें। बाहर चाहे कितना भी

प्रकाश क्यों न हो जब तक घट-भीतर विवेक का प्रकाश नहीं होगा तब तक केवल भटकने एवं ठोकर खाने के सिवा और कुछ मिलने वाला नहीं है।

इस संदर्भ में सद्गुरु कबीर का यह कथन कितना मार्मिक और झकझोर देने वाला है—

जहाँ न देखि तहाँ आपु भजाऊ। जहाँ नहीं तहाँ तन मन लाऊ।।

जहाँ नहीं तहाँ सब कुछ जानी। जहाँ है तहाँ ले पहिचानी।।

(बीजक, ज्ञान चौंतीसा)

अर्थात् मनुष्य जहां कुछ नहीं देखता वहां भागा जा रहा है। जहां कुछ नहीं है वहां अपना तन-मन समर्पित कर रहा है। जहां कुछ नहीं है वहां उसने सब कुछ मान लिया है। आवश्यकता है जो जहां है उसे वहां पहचानने की।

मनुष्य का प्राप्तव्य, जिसे पाने के बाद और कुछ पाने की आवश्यकता न रह जाये, बाहर कहीं नहीं है। बाहर का तो सब कुछ क्षणभंगुर, विनश्वर और परिवर्तनशील है। जो क्षण-क्षण बदलने वाला है, जो स्वयं स्थिर नहीं है वह हमें स्थिरता कैसे दे सकता है। जो स्वयं स्थिर नहीं है, जिसमें स्थिरता है नहीं उससे परमानंद, परमशांति, स्थिर सुख, स्थिर शांति कैसे मिल सकती है। स्थिरता तो स्थिर पदार्थ से ही मिलेगी और वह है अपना आपा। हर व्यक्ति का आत्म अस्तित्व।

ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा, खुदा, गॉड आदि अनेक नामों से जिस परम तत्त्व को अभिव्यक्त किया जाता है उसे जिसने भी पाया अपने में ही पाया, जिसने भी उसका अनुभव किया अपने भीतर, अपने में ही अनुभव किया। बाहर खोज-भटककर किसी ने कुछ नहीं पाया। बाहर से तो जो कुछ मिलेगा वह एक न एक दिन छुट जायेगा। जो मिले और छुटे वह परम तत्त्व कैसे हो सकता है। वह तो माया होगी। कबीर साहेब ने इसीलिए कहा—संतो आवे जाय सो माया।

परमतत्त्व को जिसने भी पाया अपने में पाया। जिसने अपने में नहीं पाया, अपने में अनुभव नहीं किया उसे बाहर मंदिर, मस्जिद, गिरजा, तीर्थ, वन, पर्वत कहीं भी नहीं मिल सकता, किन्तु जिसने अपने में पा लिया,

जिसने जान लिया कि जिसे मैं खोज रहा हूँ, जिसे पाना चाहता हूँ वह तो मैं ही हूँ, वह मुझसे भिन्न नहीं अपितु मेरा अपना आभा ही है, उसे वह बाहर भी दिखाई देने लगता है। इसीलिए तो सद्गुरु कबीर कहते हैं—

जहाँ जहाँ देखो तहाँ-तहाँ सोई, सब घट रहा समाई।

सब घट मेरा साईयां, सूनी सेज न कोय।

बलिहारी वह घट की, जा घट परगट होय॥

घट-घट में वहि साई बसतु है, कटुक बचन मत बोल रे॥

आँख न मूँदों कान न रूँधों, काया कष्ट न धारों।

खुले नैन हौंसि हौंसि पहिचानों, सुन्दर रूप निहारों॥

परंतु लोगों की स्थिति तो वही है जैसा कि प्रारंभ में कहा गया है कि सुई गिरी है घर में और खोज रहे हैं बाहर, परंतु घर में गिरी वस्तु बाहर खोजने से कैसे मिलेगी। उसे तो घर में खोजना होगा। फिर हमारा जो परमतत्त्व है, जिसे पाकर हम तृप्त होना चाहते हैं, वह तो खोया ही नहीं है, फिर उसे खोजना क्या। वह तो नित्य प्राप्त ही है, उसे बस समझना है। सद्गुरु कबीर कहते हैं—

मोको कहाँ ढूँढे बंदे मैं तो तेरे पास में।

जेहि खोजत कल्पो गया, घटहि माहिं सो मूर।

बाढ़ी गर्भ गुमान ते, ताते परि गइ दूर॥

बस्तू अन्तै खोजै अन्तै, क्यों कर आवै हाथ।

सज्जन सोई सराहिये, जो पारख राखै साथ॥

लेकिन यह ध्यान रखना होगा कि जिसे मैं पाना चाहता हूँ वह मैं ही हूँ, मैं शुद्ध-बुद्ध आत्मा हूँ, ब्रह्म हूँ, ईश्वर-परमात्मा मेरा ही स्वरूप है, इन शब्दों को रटने-दोहराने से कुछ घटित होने वाला नहीं है, जब तक यह भाव अनुभव में न आये। और अनुभव के लिए साधना की जरूरत है। धर्म के क्षेत्र में प्रायः कहा जाता है कि भगवान पर श्रद्धा-भरोसा रखो, उसके लिए समर्पित हो जाओ, रोओ-गिड़गिड़ाओ तो वह तुम्हें अवश्य दर्शन देगा। यदि जीते जी दर्शन नहीं देगा तो मरने पर तो अवश्य देगा। परंतु यह कथन केवल भावुकता और शब्दजाल मात्र है। श्रद्धा-भरोसा, समर्पण की आवश्यकता है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता,

किन्तु इनसे ज्यादा आवश्यकता साधना की है। अनुभव श्रद्धा-भरोसा से नहीं होगा, अपितु साधना से होगा। अनुभव के बाद जो श्रद्धा होगी, वह स्थायी होगी। इसलिए श्रद्धा की आवश्यकता तो है किन्तु वह साधना के प्रति होना चाहिए।

ईश्वर-ब्रह्म, परमात्मा, खुदा, गॉड, जीव, चेतन, आत्मा, परमतत्त्व तो शब्द हैं, किन्तु इन नाना शब्दों से जिसे व्यक्त किया जा रहा है, वह क्या है, इसे समझना होगा। ईश्वर-ईश्वर रटने मात्र से ईश्वर मिलता तो सबको मिल गया होता। आवश्यकता रटने की नहीं, अपितु अनुभव की, साधना की है। स्वामी शंकराचार्य कहते हैं—

न गच्छति विना पानं व्याधिरौषधशब्दतः।

विनापरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते॥

(विवेक चूड़ामणि 62)

अर्थात् औषध का सेवन किये बिना औषध-औषध रटने मात्र से व्याधि दूर नहीं होती, इसी प्रकार ब्रह्म-तत्त्व का अपरोक्ष अनुभव किये बिना ब्रह्म-ब्रह्म शब्द रटने से मुक्ति नहीं मिलेगी।

अपरोक्ष अनुभव के लिए साधना की जरूरत है न कि शब्दों को रटने की। साधना है आत्मभिन्न सब कुछ की अहंता-ममता एवं बाहर से कुछ पाने की आशा का त्याग कर मन को अंतर्मुख कर लेना। जितना-जितना बाहर की अहंता-ममता, कुछ पाने की वासना छुटती-मिटती जायेगी उतना-उतना मन अंतर्मुख होता जायेगा और जब बाहर की सारी अहंता-ममता-वासना का पूर्णरूपेण त्याग हो जायेगा, तब आत्मतत्त्व, स्वचेतन का अपरोक्ष अनुभव होगा। स्वामी शंकराचार्य कहते हैं—

यथा यथा प्रत्यगवस्थितं मनस्तथा तथा मुञ्चति बाह्यवासनाः।

निःशेषमोक्षे सति वासनानामात्मानुभूतिः प्रतिबन्धशून्यः॥

(विवेक चूड़ामणि 275)

अर्थात्—जैसे-जैसे मन अंतर्मुख होता जाता है वैसे-वैसे सांसारिक वासनाएं छुटती जाती हैं। सारी वासनाओं के पूर्णतया मिट जाने-छूट जाने पर बाधा रहित-बंधन रहित आत्मानुभूति होती है।

यह कहना कि समर्पित भाव से ईश्वर पर पूर्ण श्रद्धा-भरोसा रखकर उसको पुकारने से, उसको पाने के लिए रोने-गिड़गिड़ाने से वह अवश्य दर्शन देगा। इस जीवन में दर्शन नहीं देगा तो मरने पर तो जरूर देगा, अंधों को आधी रात में सूरज दिखाने के समान है। लोगों को झूठा आश्वासन देकर गुमराह करना है। जीते जी दर्शन नहीं हुआ, जीते जी जो अनुभव में नहीं आया मरने के बाद उसका दर्शन कैसे होगा। जो मरकर गया उसके पास दर्शन एवं अनुभव करने का कोई साधन नहीं है, इसलिए वह कुछ बता नहीं सकता और जो जीवित है उसे मालूम नहीं है कि मरने वाला कहां गया, उसकी क्या गति हुई। तब मरने के बाद ईश्वर अवश्य दर्शन देगा या देता है इसकी प्रामाणिकता क्या है और प्रमाणित कौन करेगा? मरने वाला या जीने वाला!

धार्मिक जगत में इस बात का बड़ा हो-हल्ला है और इस पर बहुत ज्यादा जोर दिया जाता है कि ईश्वर कण-कण में और सर्वत्र व्याप्त है। यदि यह बात सच है तो उसे खोजने-पुकारने की आवश्यकता ही नहीं है। जो कण-कण में और सर्वत्र है उसे क्या खोजना और क्या पुकारना! उसे तो बस महसूस और अनुभव करना है। परंतु ईश्वर कण-कण में है यह सिर्फ एक कथन है। इसका अनुभव किसी को नहीं है। जिसे भी अनुभव हुआ है घट-भीतर ही हुआ है। जैसे एक के घट में है वैसे सबके घट में है। आवश्यकता है तो बस उसको समझने की और समझकर बाहर सब कुछ की अहंता-ममता-वासना त्यागकर एवं सारी इच्छा-कामना छोड़कर मन को निर्मल-निर्विकार बना कर अंतर्मुख आत्मलीन मौन करने की। यह ध्यान रखना होगा कि जैसे तरंगायित और मटमैले गंदे पानी में प्रतिबिंब दिखाई नहीं देता वैसे ही चंचल और मलिन-विकारी चित्त-मन में आत्मसाक्षात्कार, आत्मानुभव नहीं होगा। शांत और निर्मल चित्त-मन में ही आत्मसाक्षात्कार-आत्मानुभव होगा।

बाहर किसी का कितना भी गुणानुवाद क्यों न कर लें, कितना भी क्यों न पुकार लें और कितना भी क्यों न खोज-भटक लें, बाहर से कुछ मिलने वाला नहीं है।

बाहर से जो भी मिलेगा भौतिक चीजें होंगी, माया होगी जिसमें न तृप्ति है और न स्थिरता। तृप्ति और स्थिरता का स्थिर आधार भीतर है। अतः जिसे भी मिला भीतर मिला, जिसे अनुभव हुआ भीतर हुआ। मिला कहना भी कहने का तरीका मात्र है। वह खोया कब है जो खोज करने के बाद मिला। वह तो है ही, नित्य हाजिर-हुजूर है। मन बाहर भटक रहा था इसलिए अनुभव में नहीं आ रहा था। मन अंतर्मुख हुआ तो अनुभव में आ गया। इसलिए मिला कह दिया गया। अनुभव करने वाला भी वही है कि जिसे मैं खोज रहा था वह मैं ही हूँ।

किसी भी साध्य की प्राप्ति के लिए सम्यक साधन की आवश्यकता होती है। साधन के बिना साध्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। आत्मलाभ, आत्मानुभव करने के लिए किस साधन की जरूरत है और उस आत्मतत्त्व का स्वरूप क्या है इसका सुंदर वर्णन करते हुए मुण्डकोपनिषद् के ऋषि कहते हैं—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

अर्थात् सत्य (सत्य ज्ञान, सत्यतापूर्ण वाणी, सत्यभावना और सत्याचरण), तप (सत्य के मार्ग में आने वाली विघ्न-बाधाओं को धैर्यपूर्वक सहन करना, उनसे विचलित न होना), सम्यक ज्ञान (जड़-चेतन का उनके गुण-धर्मों सहित यथार्थ बोध) और नित्य के ब्रह्मचर्य पालन से आत्म-लाभ, आत्मसाक्षात्कार होगा। वह आत्म तत्त्व, परमतत्त्व शरीर के भीतर ही है और ज्योतिर्मय (ज्ञानस्वरूप) तथा शुभ्र (निर्मल-निर्विकार) है। उसका अनुभव एवं साक्षात्कार वही कर सकता है जिसने यत्नपूर्वक साधना द्वारा अपने सारे दोषों को क्षीण-समाप्त कर दिया है।

भटकने-खोजने-पुकारने की आवश्यकता नहीं है—कहै सुने कछु हाथ नहीं आवै। आवश्यकता है आत्मशोधन द्वारा मन को निर्मल-निर्विकार बनाकर ध्यान-साधना की गहराई में उतरने की। इसके बिना कुछ हाथ आने वाला नहीं है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि अनेक नाम रखकर जिस परमतत्त्व को लोग बाहर खोज रहे हैं और

जिसे पाकर परमानंद, परमतृप्ति का अनुभव करना चाहते हैं और जिसको पाने के बाद और कुछ पाने की आवश्यकता नहीं रह जाती उसे जिसने भी पाया अपने भीतर पाया, अपने में ही पाया। यह सभी ज्ञानी और आत्मसिद्ध साधकों-संतों का अनुभव है। सद्गुरु कबीर बार-बार भीतर लौटने, भीतर झांकने की बात कहते हैं। अपने एक सुंदर पद में अनेक उदाहरणों के माध्यम से वे बताते हैं कि मैंने परम प्रभु को, परम आत्म, परम तत्त्व को अपने भीतर ही पा लिया है—

परम प्रभु अपने ही उर पायो।

जुगन जुगन की मिटी कल्पना, सद्गुरु भेद बतायो॥ टेक॥
जैसे कुँवरि कण्ठ मणि भूषण, जान्यो कहुँ गमायो।
काहू सखी ने आय बतायो, मन को भ्रम नशायो॥ 1॥
ज्यों तिरिया स्वपने सुत खोयो, जानि कै जिय अकुलायो।
जागि परी पलंगा पर पायो, न कहुँ गयो न आयो॥ 2॥
मिरगा पास बसे कस्तूरी, दूँढत बन बन धायो।
उलटि सुगन्ध नाभि की लीनी, स्थिर होय सकुचायो॥ ॥
कहँ कबीर भई है वह गति, ज्यों गूँगे गुर खायो।
ताका स्वाद कहँ कहु कैसे, मन ही मन मुसकायो॥ 4॥

जिस परम प्रभु, परम तत्त्व को लोग बाहर खोज रहे हैं, उसे मैंने अपने हृदय में ही पा लिया है। सद्गुरु ने जब यह भेद बताया कि जिसको तू खोज रहा है वह तू ही है तब युगानुयुग-अनादिकाल की कल्पना मिट गयी और भटकना छूट गया। जैसे एक युवती के गले में मणियों की माला पड़ी हुई थी, किन्तु उसे भ्रम हो गया कि माला कहीं खो गयी है और व्याकुल होकर वह उसे खोजने लगी। इतने में उसकी एक सखी ने आकर बताया कि अरी! माला तो तेरे गले में ही पड़ी हुई है, तू बाहर कहां खोज रही है। सखी की बात सुनकर उसके मन का भ्रम मिट गया कि माला खो गयी है। जैसे एक स्त्री ने स्वप्न देखा कि मेरा बेटा कहीं खो गया है और व्याकुल होकर खोजने लगी। जब उसका सपना टुटा और नौद खुली तो देखती है कि बेटा तो खाट पर ही सोया हुआ है। वह न तो खोया था न मिला किन्तु वह तो जहां का तहां है। वैसे ही हमारा परमात्मा कहीं खोया नहीं है, खोने का भ्रम हो गया है। वह तो जहां का तहां है।

जैसे मृगा की नाभि में कस्तूरी होने से उसको वहीं से सुगंध आती है, परंतु उसे न जानकर वह उस सुगंध के आधार को जंगल-जंगल खोजता भटकता रहता है। एक दिन जब वह थककर बैठा और अपने मुँह को मोड़कर नाभि के पास ले गया तो उसे पता चल गया कि यह सुगंध तो मेरी अपनी नाभि से ही आ रही है। वह लज्जित होकर भटकना छोड़ दिया, क्योंकि उसे ज्ञान हो गया कि सुगंध का आधार बाहर नहीं, मेरी अपनी नाभि में ही है। इसी प्रकार परम सुख, परमशांति, परमानंद का आधार हमारे हृदय में, हमारा अपना आपा ही है, परंतु उसको न जानकर हम बाहर खोजते भटक रहे हैं। जब सद्गुरु मिले तब उन्होंने बताया कि जिसे तुम खोज रहे हो वह तुम स्वयं ही हो, तब सारा भ्रम और भटकना मिट गया। कबीर साहेब कहते हैं कि इस आत्म-अनुभव की दशा का वर्णन कहकर उसी प्रकार नहीं बताया जा सकता जिस प्रकार गूंगा गुड़ खाने के बाद उसके स्वाद के अनुभव को कहकर नहीं बता सकता। उसको पूछने पर वह मन ही मन मुसकराकर रह जाता है।

यह ज्वलंत सत्य सदैव ध्यान में रखना होगा कि जो विनाशी और नश्वर है वह कभी अपना नहीं होगा, क्योंकि वह तो मिलेगा और छुटेगा तो उससे स्थिर शांति, स्थिर आनंद कैसे मिलेगा। और बाहर से जो मिलेगा वह विनाशी ही होगा। हां, विनाशी-नश्वर चीजें शरीर निर्वाह और सेवा का साधन हैं, इससे कोई इंकार नहीं कर सकता, परंतु इनसे मिलने वाला सुख विनाशी-क्षणभंगुर ही होगा। स्थायी सुख का आधार तो अविनाशी अनश्वर तत्त्व ही होगा और वह अविनाशी तत्त्व बाहर नहीं, भीतर है। बाहर हम उसकी केवल कल्पना कर सकते हैं, अनुभव भीतर ही होगा, अपने में ही होगा। स्वामी श्री ब्रह्मानंद जी महाराज कहते हैं—

घट ही में अविनाशी॥ टेक॥

काहे रे नर मथुरा जावे, काहे जावे काशी।
तेरे तन में बसे निरंजन, जो बैकुंठ विलासी॥ 1॥
नहिं पाताल नहिं स्वर्गलोक में, नहिं सागर जलराशी।
जो जन सुमिरण करत निरंतर, सदा रहे तिन पासी॥ 2॥

जो तू उसको देखा चाहे, सबसे रहो उदासी।
 बैठ एकांत ध्यान नित कीजै, होय ज्योति परकासी॥ ॥
 हृदय में जब दर्शन होवै, सकल मोह तम नासी।
 ब्रह्मानंद मोक्ष पद पावै, कटै जनम की पासी॥ 4॥

हे साधो! जिस अविनाशी तत्त्व की खोज में तुम बाहर भटक रहे हो वह तो तुम्हारे घट-भीतर विराजमान है। हे मनुष्य! तुम मथुरा और काशी क्यों जा रहे हो। जिसे तुम बैकुंठ निवासी कहते हो वह निर्मल-निर्विकार-मायातीत अविनाशी तुम्हारे शरीर में ही स्थित है। वह न तो पाताल में है न स्वर्गलोक में है और न सागर की अथाह जलराशि में है किंतु जो व्यक्ति निरंतर आत्मस्मरण करता है वह सदा उसके पास ही रहता है। यदि तुम उसको देखना, उसका साक्षात्कार करना चाहते हो तो तुम सारे सांसारिक भोगों से, अहंता-ममता से उदास होकर एकांत में बैठकर नित्य ध्यानाभ्यास करो, तब तुम्हारे घट-भीतर आत्मज्योति का प्रकाश हो जायेगा। श्री स्वामी ब्रह्मानंद जी महाराज कहते हैं कि जब हृदय में ही आत्मसाक्षात्कार कर लोगे तब अज्ञान-अंधकार जनित सारे मोह का नाश हो जायेगा और तुम मोक्ष-पद को पा जाओगे, फिर जन्म-मरण की फांसी कट जायेगी।

बाहर की वस्तु तो बाहर खोजने से कभी मिल जायेगी, परंतु भीतर की वस्तु बाहर खोजने से कैसे मिलेगी! आवश्यकता खोजने-भटकने की नहीं अपितु जानने-समझने की और जान-समझकर ठहरने-रुकने की है। न जानने के कारण दूर जैसा लगता है, जान लें तो नजदीक है और नजदीक नहीं नित्य प्राप्त है। श्री निर्मल साहेब जी कहते हैं—जाने बिना दूर जाने को नजदीक। देखो निरंतर में अपरोक्ष तसदीक। अपना आपा, निज स्वरूप ही परम तत्त्व, परम आत्मा है यह न जानकर जो परम तत्त्व को बाहर खोजते भटक रहे हैं उन पर व्यंग्य करते हुए सद्गुरु कबीर कहते हैं—घर की वस्तु निकट नहीं आवै, दियना बारि के दूंदत अंधा।

दुनिया में तो लोग वही कहावत चरितार्थ कर रहे हैं—घर की मुर्गी दाल बराबर। लोगों को यह विश्वास ही नहीं होता कि घट भीतर हृदय-स्थित जीव, चेतन ही

परम तत्त्व, परम आत्म, सच्चा ईश्वर है। भावुक लोग झगड़ा करने लग जाते हैं कि जीव ही शिव और आत्मा ही परमात्मा कैसे हो जायेगा! जीव तो अल्पज्ञ, अल्प शक्ति वाला, असमर्थ और एकदेशी है और परमात्मा-ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वसमर्थ, सर्वव्यापक, परम दयालु है! फिर जीव शिव कैसे हो जायेगा। ऐसे भोले लोगों को पता नहीं है कि किसी आकाशीय और सर्वव्यापक परमात्मा ने दुनिया में आकर अपने होने की घोषणा नहीं की है, किन्तु अपनी सत्ता-महत्ता, गरिमा-शक्ति से परिचित न होने के कारण और विषयों की आसक्ति की दुर्बलता के कारण जीव ने ही ईश्वर की कल्पना की है और उसे सर्वशक्तिमान, सर्व हर्ता-कर्ता बना डाला है। अनेक महापुरुषों के जीवन में ईश्वरत्व का आरोपण कर उन्हें सर्व हर्ता-कर्ता अनन्त ब्रह्माण्ड नायक बनाने वाला भी जीव ही है। और उनकी भक्ति कर उनकी कृपा से भोग-मोक्ष पाने की कल्पना करने वाला भी जीव ही है। ऐसे ईश्वरों की हम केवल कल्पना या भावना कर सकते हैं उनका साक्षात्कार या अनुभव नहीं हो सकता। अनुभव स्वसत्ता, आत्म तत्त्व का ही होगा और वह नित्य हाजिर-हुजूर है। न तो उसे पुकारना है और न खोजना है। बस मन को साधना-विवेक द्वारा निर्मल-निर्विकार बनाकर अंतर्मुख करके आत्मलीन होना है। बाहर से कुछ पाना चाहेंगे तो निराशा ही हाथ लगेगी। सद्गुरु कबीर कहते हैं—

जाको ध्यान धरे विधि हरिहर, मुनि जन सहस अठासी।
 सो तेरे घट माहिं बिराजे, परम पुरुष अविनाशी॥
 है हाजिर तेहि दूर बतावै, दूर की बात निरासी।
 कहैं कबीर सुनो भाई साधो, गुरु बिन भ्रम न जासी॥

हर मनुष्य को अपने मानस पटल पर यह अंकित कर लेना चाहिए कि परम तत्त्व को जिसने भी पाया अपने भीतर, अपने में ही पाया। जिसने अपने में नहीं पाया, उसे बाहर कभी नहीं मिल सकता। अतः न कल्पना करें, न भटकें किन्तु अपने में लौटें, अपने में रुकें, स्थित होवें। इसी में ही स्थिरता है और इसी में जीवन की पूर्णता है।

—धर्मेन्द्र दास

राम रतन धन पायो

(संत मीराबाई का जीवन)

लेखक—देवेन्द्र दास

(गतांक से आगे)

19. परदाप्रथा का उल्लंघन

मीरा के समय परदे का प्रचलन था। परदा प्रथा के कारण रानियों एवं कुंवराणियों को महल की चहारदीवारी के भीतर ही जीना पड़ता था। राजकुल में आठ का परदा अथवा चार का परदा प्रचलित था। आठ के परदे में एक साथ आठ एवं चार के परदे में एक साथ चार स्त्रियां मिलकर सामूहिक रूप से ही बाहर निकल सकती थीं; एक अकेली नहीं। मेवाड़ के राजकुल की स्त्रियों का आम जनता से मिलना-जुलना, व्यवहार रखना अनुचित समझा जाता था। ऐसी स्थिति में मीरा के पास केवल दो ही विकल्प थे। पहला, वह अपनी गतिविधि को परदे की संकुचित सीमा तक सीमित रखती; दूसरा, वह परदे की सीमा का अतिक्रमण करके जनता के बीच सत्संग के लिए जाए। मीरा ने दूसरा मार्ग चुना। मीरा ने परदे का भी अतिक्रमण किया और दुर्ग की सीमा का भी। दोनों को त्यागकर एक चमार कहे जाने वाले साधु के पावन सान्निध्य में वह भक्ति भाव में डूब गयीं—

मोहिं लागी लगन गुरु चरणन की॥

चरण बिना मोहि कुछ नहीं भावै, जग माया सब सपनन की।

भवसागर सब छूट गए हैं, फिकर नहीं मोहि तरनन की।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर, आस गहि गुरु चरणन की॥

20. भक्ति एवं साधुसंगति

मीरा महल की चहारदीवारी में रहकर सामान्य विधवा जीवन नहीं बिताना चाहती थीं, वह साधु संगति भी करना चाहती थीं। भक्ति करना बुरा नहीं। यदि वह घर में रहकर पूजा-पाठ करके अपना वैधव्य काटती रहती तो किसी को क्या आपत्ति होती? आपत्ति का कारण साधु-संगति ही जान पड़ता है। मीरा राणा कुल की बहू थीं। वह सामान्य भक्तिन की तरह लोगों से मिलतीं-जुलतीं तो राजपरिवार की मर्यादा कैसे न भंग

होती। किंतु भक्ति न पुरुष मानती है, और न ही स्त्री। 'जाति-पांति पूछै नहीं कोई, हरि को भजै सो हरि को होई।' भक्ति सामंती संस्कारों का विरोध करती है। यहां ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री नहीं हैं। यहां मात्र भक्त हैं।

मीरा के लिए दो बातें अनिवार्य थीं—भक्ति एवं साधु संगति। स्त्री व पुरुष के लिए बंटी हुई दुनिया में पर-पुरुष—चाहे वह साधु ही क्यों न हो, की संगत में मीरा उठती-बैठती हैं। यह साधु संगत मीरा के संघर्ष का सबसे बड़ा कारण प्रतीत होता है।

साधु-ही पीहर, साधु-ही सासरो, सांवरियो भरतार है।

जात-पाँत, कुल-कुटुंब कबीलों, साधु ही परिवार है॥

साधु संतों की संगत में मीरा की भक्ति दृढ़ हो गयी। वह निर्भय हो गयी। परदा तर की सुंदरी न रही।

सब संतन पर तन मन वारों, चरण कंवल लपटानी।

मीरा को प्रभु राखि लई है, दासी अपनी जानी॥

21. मीरा की कृष्ण-भक्ति

मीरा की भक्ति बड़ी सरल है। उसमें कोई घोर दार्शनिकता नहीं है। एक बच्चे की-सी सरलता, निष्कपटता और विश्वास के साथ मीरा माधुर्य भाव से, सखी भाव से, दासी भाव से कृष्ण को आराध्य के रूप में देखती हैं। भक्ति सुकोमल व तृप्तदायी अनुभव है। जिस जीवन का आधार भक्ति बनती है, उसे बड़ा मजबूत कर देती है। प्रार्थना, प्रेम-मग्नता जीवन में एक स्वाद पैदा कर देते हैं। मीरा ने इस तृप्ति का शिखर छू लिया था। एक ओर उनका कठोर जीवन है—मीरा स्त्री है, अपुत्रा-विधवा है, परिवार से निरंतर मानसिक उत्पीड़न ही मिल रहा है; और दूसरी ओर मीराबाई की सरल भक्ति है। श्रीकृष्ण की भक्ति उनका एकमात्र कवच है। इसी के आधार पर वह कुलमर्यादा, लोकलज्जा त्यागने पर आमादा हैं—

लोकलाज कुल कानि जगत की दी बहाय जस पानी।
अपने घर का परदा कर लो, मैं अबला बौरानी॥

उनका एक पद्य है—

मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई॥
छाँड़ि दई कुल की कानि, कहा करि है कोई।
संतन ढिग बैठि-बैठि लोकलाज खोई॥
अंसुवन जल सींचि-सींचि प्रेम बेलि बोयी।
अब तो बेलि फैलि गयी, आनंद फल होई॥
दूध की मथनियां बड़े प्रेम से बिलोई।
दधि मथि घृत काढ़ि लियो, डार दई छोई॥
भगत देखि राजी हुई, जगत देखि रोई।
दासि भाव लाल गिरधर, तारो अब मोहिं॥

22. राजपरिवार द्वारा मीरा को कष्ट—मीरा का भजन-कीर्तन, साधु-सत्संग बढ़ता गया। मीरा का स्वेच्छाचार, स्वतंत्र होकर परदे एवं दुर्ग की सीमा से बाहर स्त्री-पुरुषों से सत्संग करना दुराचार की तरह प्रचारित किया गया। यह सब कुलोचित मान-मर्यादा के विरुद्ध माना गया। फलस्वरूप उन पर कई पाबंदियां (रोक) लगा दी गयीं, उन्हें कष्ट एवं यातनाएं दी गयीं। मीरा को जहर देकर मारने के प्रयास की चर्चा भी उनके भजनों में आती है। यह प्रकरण जनता की स्मृति में सदियों से है। लोगों में ऐसी धारणा है कि “राणा विक्रमादित्य के आदेश पर एक विजयवर्गीय जाति के बनिया (महाजन) ने गुर्जर गौड़ और दाहिमा जाति के दो ब्राह्मणों के साथ मिलकर मीरा को जहर दिया। लोक में इन तीनों षड्यंत्रकारियों की निंदा करने वाली जनश्रुति प्रचलित है—बीजावर्गी वाणिया, दूजो गुर्जर गोड़, तीजो मिले जो दाहिमो करे टापरे चोड़।” अर्थ है—बनिया, गुर्जर गौड़ और दाहिमा ब्राह्मण—ये तीनों मिलकर दूसरे के घर को बर्बाद कर देते हैं।

2 . मीरा के सहयोगी—मीरा असहाय, लाचार विधवा न थी। वह एक कुंवराणी थीं। उनके पास धन-संपत्ति थी, जागीर थी, लोग थे जो उनकी रक्षा-सहयोग करते थे। ये उनके मायके से उनके साथ गये थे, कुछ

चित्तौड़ के लोग भी थे। राजपरिवार में जब कोई अमर्यादित हो जाता तब उसे जहर देकर मार दिया जाता था, परिवार के सम्मान को बचाने के नाम पर। निश्चय ही मीरा को जब मारने की बारी आयी तो मीरा के हितैषी लोगों ने अवश्य ही उनकी रक्षा के लिए जहर के प्याले को बदल दिया होगा, तभी वह बची रह सकीं। बिना सहयोगियों के मीरा बचती नहीं। मीरा ने महल में रहना उचित न समझा और उन्होंने अपने सहयोगियों के साथ चित्तौड़ छोड़ने का संकल्प लिया, इस प्रतिज्ञा के साथ कि दुबारा मेवाड़-भूमि पर पैर न रखेंगी। लगभग 15 वर्ष तक मेवाड़ के कलहपूर्ण एवं संघर्षमय जीवन के बाद मीरा ने दुखी होकर मेवाड़ को अलविदा कहा।

24. मीरा की सखी ललिता—मीरा जब मेवाड़ से चलीं तो उनके साथ कृष्ण भक्तों का एक बड़ा समूह तो था ही, किंतु उनकी वह दासी जिसका नाम ललिता था, जो प्रायः बाल्यावस्था से ही अनुचरी के रूप में छाया की तरह सुख-दुख-विपत्ति में उनके साथ रहती थी, रुग्ण होती हुई भी, उनके साथ हो ली। ललिता मीरा से उम्र में कुछ बड़ी थी। यों तो वह राजकुल की दासी थी किंतु मीरा पर उसकी भक्ति और स्नेह, वात्सल्य और सखीपने का अद्भुत मिश्रण था। बीमारी के चलते उसे साथ न चलने के लिए मना किया गया पर वह न मानी। मीरा से उसका बड़ा जुड़ाव था। वृंदावन पहुंचकर वह अपने दमे के रोग से छुटकारा पाकर स्वस्थ हो गयी।

भक्त ध्रुवदास जी द्वारा लिखित भक्त नामावली में मीरा-ललिता के मधुर संबंधों का वर्णन इस प्रकार है—

लाज छाँड़ि गिरिधर भजी करी न कछु कुल कानि।
सोई मीरा जग विदित प्रगट भक्ति की खानि॥
ललिता हू लह बोलि कि तासों हौ अति हेत।
आनंद सो निरखत फिरै, वृंदावन रस खेला॥

(मीरा ने लोक-लाज छोड़कर गिरधर कृष्ण की भक्ति की। उसने कोई पारिवारिक मर्यादा न मानी। मीरा ने संसार में भक्ति का स्रोत प्रकट किया। ललिता को मीरा ने स्नेहपूर्ण स्वर में कहा, तुमसे मेरा बड़ा स्नेह है और वे देर तक वृंदावन में आनंद से कृष्ण लीला देखती रहीं।)

ललिता आजीवन मीरा के साथ रही। यही वह दासी थी जो मीरा के पद्यों को लिखकर सुरक्षित रखती थी। मीरा स्वयं लिखती न थीं। वह भक्ति के भावावेश में रचकर गीत गातीं, उनकी सखी लिख लेती। द्वारिका के रणछोड़ मंदिर में जिस दिन मीरा ने समाधिस्थ होकर अपना शरीर छोड़ा था, उसकी पूर्व रात्रि में ललिता का शरीर छूट गया था, ऐसा कहा जाता है।

25. राजा रूठै, नगरी राखै—लोग सोचते थे पतिविहीन मीरा हमेशा राणा के भय से भीत रहेगी किंतु मीरा की भक्ति ने उन्हें निर्भय एवं स्पष्टवादी बना दिया था। वह सहते-सहते मजबूत हो चुकी थीं और राणा से क्रुद्ध हो चुकी थीं। उनके भजनों में कई बार उनका उग्र रूप देखने को मिलता है। वे कहती हैं—राणा म्हारो कांई कर लेसी, मीरां छाड़ि दई कुल लाजि। राजसत्ता से उनकी नाराजगी उभर आती है—राणाजी तै क्यूं राखे म्हांसूं बैर? ते तो राणा म्हारे इसड़ा लागो ज्यू वृक्षन में केर। 'केर' का पेड़ बहुत कंटीला होता है, उसके फल-फूल चुनने में हाथों में बहुत कांटे गड़ते हैं, हाथ लहलुहान हो जाते हैं। इसके फल बाजार में बेचे जाते हैं। मीरा राणा को 'केर' कहती हैं—कंटीला पेड़। वे और भी कहती हैं—मूरख राजा राज करत है, पंडित फिरै भिखारी। मीरा राणा के कायदे-कानून से हटकर है—'राणा जी अब न रहंगी तोरी हटकी, साध-संग प्यारा लागै, लाज गयी घूघट की।' मीरा कहती हैं—मैं तो नहीं रहूं, राणाजी थारे देस में। थारो देस में साध नहीं हैं, लोग बसे सब कूड़ो (तुम्हारे देश में साधु नहीं हैं, झूठे लोग बसते हैं)।

मीरा भयभीत नहीं हैं कि उसका क्या होगा? वह कहती हैं—राजा रूठै, नगरी राखै। राजा रूठ जाय तो क्या? प्रजा रखेगी।

मीरा ने 15 4 ई. में मेवाड़ छोड़ दिया। पहले वह अपने मायके गयीं किंतु वहां भी कुशल न था। अतः वह पुष्कर तीर्थ होते हुए वृंदावन चली गयीं। जब मीरा

वृंदावन में थीं तभी उन्हें मेवाड़ के पतन की दिल दहला देने वाली घटना सुनने को मिली।

26. मेवाड़ में जौहर की घटना—मीरा के मेवाड़ छोड़ते ही एक भयंकर आक्रमण ने मेवाड़ को लगभग मिटा ही डाला। 15 5 ई. में गुजरात के मुस्लिम शासक ने मेवाड़ पर हमला कर दिया। राजपूतों की पराजय हुई। चित्तौड़ की महिलाओं ने मुसलिम आक्रमणकारियों से अपनी इज्जत बचाने के लिए हजारों की संख्या में मिलकर आत्मदाह कर लिया। राजपूत योद्धा युद्ध में मारे गए। एक सुरंग में लकड़ियां इकट्ठी कर अग्नि प्रज्वलित कर दी गयी और स्त्रियों को उस सुरंग में डाल दिया गया। फिर सुरंग का प्रवेशद्वार बंद कर दिया गया—तेरह हजार स्त्रियां जलकर मर गयीं। बत्तीस हजार राजपूत युद्ध में मारे गये। इतिहास में इसके 200 वर्ष पूर्व मेवाड़ में एक बार और ऐसा हुआ था। विजेता मुस्लिम सुल्तान जब अपनी विजय का दृश्य देखने चित्तौड़ में प्रवेश किया तो एक बार वह भी सहम गया। पूरे चित्तौड़ में सिर्फ लाशें ही लाशें थीं। अगणित अधमरे मनुष्य भयंकर कष्ट से छटपटा रहे थे। "चित्तौड़ का अंतिम दिवस आ पहुंचा है।" इतिहासकारों ने लिखा है।

मीरा यदि मेवाड़ में उस समय होतीं तो उन्हें भी चाहे-अनचाहे अपनी जान देनी पड़ती। लोगों में चर्चा फैली कि एक भगवद भक्त के नगर छोड़ने से यह प्रकोप हुआ है।

27. 'म्हाने लागै वृंदावन नीको'—वृंदावन के प्रति मीरा के मन में बड़ा अनुराग था। यह मथुरा के निकट है और कृष्ण, ऐसा माना जाता है, वृंदावन में निरंतर रास करते हैं। इधर-उधर भटकते हुए मीरा अपने साथियों संग वृंदावन पहुंचीं और खिल गयीं—

वृंदावन निज धाम देख्यौं री, वृंदावन निज धाम।

श्री जमुना जाके निकट बहत हैं, सब विधि पूरण काम।।

उस समय वृंदावन कृष्णभक्ति का सबसे प्रमुख केन्द्र था। बल्लभाचार्य एवं चैतन्य महाप्रभु जैसे कृष्ण-

मीरा स्मृति ग्रंथ, संपादक ललिता प्रसाद सुकुल, बंगीय हिन्दी परिषद् कलकत्ता ई. से साभार लिया।

पृष्ठ , कर्नल जेम्स टाड लिखित 'राजस्थान का इतिहास' अनुवाद—डॉ. कालूराम शर्मा, श्याम प्रकाशन, जयपुर,

भक्त वहां वास किए थे। उनके स्थापित मठ-मंदिर तो थे ही, कृष्ण भक्ति से संबंधित अन्य शाखाएं भी वहां स्थापित थीं। पूरे देश से लोग वृंदावन आते थे। मथुरा व्यावसायिक राजमार्ग से जुड़ा था, अतः यह व्यवसाय का भी केन्द्र था।

मीरा की चर्चा उनके आगमन के पूर्व ही वहां फैल चुकी थी। उनके भजन जनता में गाये जाते थे। लगभग सभी मत-पंथ के लोग उन्हें अपने मत में दीक्षित करने के लिए उत्सुक थे किंतु मीरा की रुचि इन सबमें नहीं थी। वे तो कृष्ण धाम में संतों के दर्शन हेतु गयी थीं। उस समय जीव गोस्वामी नाम के वैराग्यवान संत की चर्चा वृंदावन में थी, मीरा उनके दर्शन को पहुंची।

28. जीव गोस्वामी से भेंट—महात्मा जीव गोस्वामी चैतन्य महाप्रभु के छः प्रमुख शिष्यों में से थे। बड़े ज्ञानी थे। स्त्रियों से न मिलने का व्रत ले रखा था। मीरा ने संदेश पहुंचवाया—‘मैं तो समझती थी कि वृंदावन में कृष्ण ही एक पुरुष हैं, बाकी सब कृष्ण की प्रेयसी हैं, किंतु आपको देखा तो जाना कि आप कृष्ण के पट्टीदार पुरुष हैं।’ वस्तुतः वैष्णव केवल श्री कृष्ण को पुरुष और बाकी सभी को उनकी प्रेयसी-गोपिकाएं मात्र मानते हैं। मीरा का संदेश सुनकर जीव गोस्वामी सकुचाते हुए बाहर निकले और मीरा से मिले।

इस घटना का हवाला देते हुए एक लेखक ने लिखा है—‘उस युग में जीव गोस्वामी जैसे पंडित और धर्मशास्त्री से जानबूझकर टकराना कोई सामान्य बात नहीं थी। यह घटना इस बात का प्रमाण है कि मीरा केवल करताल बजानेवाली और गिरधर के गीत गानेवाली सामान्य महिला न थी। उसके पास भक्ति-साधना और मानव-मूल्यों की समझ थी। आचार्यत्व की मुद्रा उसने कभी अपनाई नहीं, पर शास्त्रों से भी वह अपरिचित नहीं थी।’ इस घटना से मीरा के व्यक्तित्व की झलक मिलती है—कैसे खिलंदड़े अंदाज में उन्होंने एक ज्ञानी साधु को मृदु बना दिया। मीरा के व्यक्तित्व की गहराई समझ आती है।

डॉ. सी.एल. प्रभात, मीरा : जीवन और काव्य, पेज

29. मीरा की स्वतंत्र भक्ति—मीरा किसी मत में दीक्षित न हुईं, अपितु स्वतंत्र ढंग से भक्ति करती रहीं, इसके नाते कुछ मतावलंबी उनसे रुष्ट हो गये। वैष्णव ग्रंथ ‘बावन वैष्णवन की वार्ता’ में मीरा से जुड़ा प्रसंग आता है कि पुष्टिमार्गी भक्त मीरा से नाखुश हैं क्योंकि वह उनके मत में दीक्षा नहीं ले रही है। एक साधु को मीरा ने भेंटस्वरूप कुछ अशर्फी (सोने के सिक्के) देना चाहा किंतु उस साधु ने संतों की भरी सभा में भेंट अस्वीकार कर दी और मीरा की आलोचना की क्योंकि वह स्वतंत्र ढंग से भक्ति करती है, अपने बनाए भजन गाती है और उनके पंथ में शामिल नहीं हुईं।

0. वृंदावन छोड़ना—मीरा ने बहुत चुनौतीपूर्ण ढंग से जीवन जीया। राणा के राज्य में रहीं, वहां राणा से निभाने की चिंता न की; और मेवाड़ से विदा ली। वृंदावन में रहकर वहां के आचार्यों से अलग रहीं। वृंदावन मीरा को रास नहीं आ रहा था। वहां के भिन्न मतों में खींचातानी, वैमनस्य, राग-द्वेष, कट्टरता देखकर वह ऊब गयीं। मठ-मंदिर भक्तों की संख्या बढ़ाने, चढ़ावा में बढ़ोत्तरी करने में लगे थे। ऐसे जकड़बंदी भरे माहौल में उन्हें घुटन होने लगी। यह सब मीरा के लिए अरुचिपूर्ण था। फिर वृंदावन चित्तौड़ के निकट था। वहां से मीरा से संबंधित गतिविधियों की जानकारी चित्तौड़ पहुंचती रही। मीरा का भजन-कीर्तन, साधुओं के साथ खुलकर बैठना राजपरिवार को चिढ़ाने वाला रहा होगा। संत प्रियादास ने भक्तमाल की टीका में लिखा है—‘राणा की मलिन मति देखि बसी द्वारावती’। द्वारावती = अनेक द्वारों वाली नगरी द्वारिका।

1. द्वारिका में वास—दो-तीन बरस वृंदावन आदि में बिताकर मीरा 15 7 ई. में द्वारिका पहुंचीं। मीरा जहां भी जातीं, उनके संगी-साथी, टोली साथ होते, भाजनिक (भजन गानेवाले) होते। वह कोई असहाय-बौराई हुई अबला न थी।

दीवान मुंशी प्रसाद जी ने ‘मीरा के जीवन चरित’ को बड़ी मेहनत से लिखा है। उन्होंने मीरा संबंधित कुछ गौर करने लायक बातें लिखी हैं—

1. मीरा ने कभी वैरागन के भगवा कपड़े नहीं पहिने। वह साधारण गृहस्थों के कपड़ों में आजीवन रहीं।

2. मीरा के पास आय के साधन थे। उसके श्वसुर की दी हुई चित्तौड़ की जागीर मीरा के पास हमेशा रही। अतः मीरा को भौतिक दारिद्र्य न था। वे अपने लश्कर के साथ यात्रा करतीं।

मीरा के आराध्य श्री कृष्ण भी तो मथुरा से भागकर वंश-परिवार समेत द्वारिका ही बसे थे। द्वारिका समुद्र किनारे गुजरात में है। कबीर, नानक, माध्वाचार्य, चैतन्य, ज्ञानेश्वर आदि संत द्वारिका यात्रा किए थे। गुजरात, खासकर द्वारिका उस समय भक्ति का केन्द्र था। जनसाधारण एवं राजपरिवार में भी वैष्णव धर्म के लिए बड़ी श्रद्धा थी। उस समय भेंट द्वारिका में मीरा के पितृ पक्ष के राठौड़ शासक का वहां शासन था। अतः मीरा को यहां निश्चय ही सुरक्षा एवं अपनापन महसूस हुआ होगा।

कहते हैं मीरा सौराष्ट्र में पहले जूनागढ़ गयीं। वहां से सरसई, सोमनाथ, गोरखमणि, माधवपुर, घेड, सुदामापुरी, पोरबंदर और नियाड़ी होते हुए आरंभड़ा पहुंचीं, जहां उस समय शिव सांगा नामक वाढेल राजा शासक था और स्वयं कृष्णभक्त था। मीरा काफी समय आरंभड़ा रहीं। वहां के बाद भेंट-द्वारिका में रहीं। जीवन के अंतिम दस वर्ष मीरा ने द्वारिका एवं भेंट द्वारिका में भजन-कीर्तन, पुण्य-कार्य एवं सत्संग करते बिताए। उनकी प्रेरणा से वहां पुराने रणछोड़ मंदिर का जीर्णोद्धार कराया गया। उन्होंने एक अन्नक्षेत्र भी कायम किया।

2. मीरा को वापस मेवाड़ बुलाने की मांग— मीरा को द्वारिका रहते काफी समय बीत गया था। उनकी उम्र लगभग पचास वर्ष की हो रही थी। उनके मेवाड़ में नये राणा उदय सिंह गद्दी पर बैठे। जनता में लगातार मीरा को वापस बुलाने की मांग थी। साथ ही जिस तरह से मीरा मेवाड़ छोड़कर वृंदावन और फिर द्वारिका गयीं उससे जनता में मेवाड़ का अपयश फैला। मीरा जहां-जहां गयीं, मेवाड़ के राणाओं की निंदा जनता में फैलती गयी। यह सब समझकर राणा उदय सिंह ने कुछ सामंतों और ब्राह्मणों को भेजकर मीरा को वापस

बुलवाना चाहा किंतु मीरा ने मेवाड़ लौटने से इंकार कर दिया।

मीरा ने कहा कि वह वापस उस जगह नहीं लौटेगी जहां उनकी भक्ति से किसी की मान-मर्यादा एवं इज्जत पर आंच आती हो। और वह द्वारिकाधीश के मंदिर के भीतरी कक्ष में कृष्ण की मूर्ति के समक्ष चली गयी। बाहर लोग इंतजार करते रहे। सुबह जब वह बाहर न आयीं तब भीतर जाकर देखा गया। उन ब्राह्मणों के बताये अनुसार भीतर कक्ष में मीरा का कोई चिह्न न था। बस, मीरा की साड़ी का कुछ अंश कृष्ण-मूर्ति से लिपटा दीख पड़ता था। ब्राह्मण यह कहते वापस लौट गये कि मीरा कृष्ण की मूर्ति में समा गयीं और कृष्ण के साथ एकमेक हो गयीं। यह घटना 1548 ई. की है। तब मीरा पचास वर्ष की थीं।

संभव है, मीरा ने जयदेव, वल्लभाचार्य, ईसरदान की तरह जीवित ही जल समाधि ले ली हो। मंदिर के अंदर से एक रास्ता सीधे बाहर समुद्र की तरफ जाता था।

कौन कितने दिन रहकर शरीर छोड़ा, किस प्रकार मृत्यु हुई—इसका इतना मूल्य नहीं है जितना इस बात का कि जीवन कैसे जिया गया। मीरा-प्रेमियों के लिए मीरा का जीवन-संघर्ष मूल्यवान है न कि उनकी मृत्यु। शरीर तो सबका किसी-न-किसी बहाने जाता ही है। लंदन में रह रही परितामुक्ता ने मीरा बाई के जीवन पर एक अत्यंत शोधपूर्ण किताब लिखी है जिसमें वे लिखती हैं—Mira's life and the struggle that this embodied is more important than the manner of her death.¹

. वैष्णव संत नाभादास जी का मीरा पर रचित पद्य—नाभादास जी महाराज एक प्रसिद्ध वैष्णव संत राजस्थान में हुए। वे डोम (दलित) जाति के थे और जयपुर के निकट गलता नामक स्थान पर रहते थे। सन् 1600 ई. में वे वर्तमान थे। संतों के जीवन पर उनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'भक्तमाल' है। यह ग्रंथ छप्पय रूप

1. Upholding the common life : Community of mira bai by Parita mukta. oxford University Press, 1994.

में लिखा गया है। छः पंक्तियों के पद्य को छप्पय कहा जाता है। नाभादास जी की लेखनी में जादू है। वे भक्त-पारखी हैं, चुने शब्दों में मार्मिक भेद बता देने में सक्षम हैं। भारतवर्ष में संत-जीवन पर भक्तमाल जैसा ग्रंथ दूसरा नहीं मिलता। इसमें लगभग 200-250 संतों-भक्तों के जीवन का प्रशंसात्मक वर्णन है। जैसी जनता में उनकी चर्चा है, वैसा नाभा ने लिख दिया है। यह अभी भी प्रकाशित होता है। इस पर अनेक टीकाएं की गयी हैं। प्रियादास जी, जो नाभादास के 100 वर्ष बाद हुए, उनकी टीका सर्वाधिक पुरानी तथा प्रामाणिक है।

नाभादास जी मीरा के बारे में लिखते हैं—

लोकलाज कुल शृंखला तजि मीरा गिरधर भजी॥ 1॥

सदृश गोपिका प्रेम प्रगट कलजुगहिं दिखायो॥ 2॥

निरअंकुश अति निडर रसिक जस रसना गायो॥ ॥

दुष्टन क्रोध विचार मृत्यु को उद्यम कीयो॥ 4॥

बार न बांको भयो गरल अमृत ज्यों पीयो॥ 5॥

भक्ति निशान बजाय के काहू ते नाहिन लजी॥ 6॥

श्री नाभादास जी कहते हैं—भक्तिमयी मीरा ने लोकलज्जा और पारिवारिक बंधनों को त्यागकर गिरधर कृष्ण का भजन किया। 1॥ जैसे गोपिका कृष्ण को चाहती थीं, वैसे ही प्रेममयी भक्ति आज के युग में मीरा ने कर दिखाया। 2॥ उन्होंने स्वेच्छा से, बिना डरे अपनी वाणी से श्रीकृष्ण का यशोगान किया। ॥ मीरा की भक्ति को एवं जीवन को दोषयुक्त मानकर दुष्ट लोगों ने उन्हें मारने का प्रयास किया किंतु मीरा का बाल भी बांका न हुआ और वे विष को अमृत समझकर पी गयीं। 4-5॥ मीरा ने भक्ति का डंका बजाया और प्रभु-सुमिरण में जरा भी लज्जा न मानी। 6॥

4. आधुनिक समय में मीरा—आधुनिक समय में महात्मा गांधी एवं रवीन्द्रनाथ टैगोर—दोनों ने ही मीरा का मूल्य पहचाना था। गांधी जी को मीरा के भजन बड़े प्रिय थे। उनके आश्रम में मीरा के गीत गाये जाते थे। ‘मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई’ तो विशेष प्रिय था उन्हें। अपने पत्रों-लेखों, भाषणों में बापू मीरा की चर्चा करते रहते थे। गांधी जी ने एक पत्र में लिखा है—राजस्थान के शाही परिवार में जन्मी मीरा ने सामंती समाज के विरुद्ध विद्रोह किया था। मीरा पहली

सत्याग्रही थीं। 1926 में इंग्लैंड के शाही परिवार की एक अंग्रेज नवयुवती ‘मैडलीन’ महात्मा गांधी से प्रभावित होकर उनके पास आयी। उसने भारत में रहकर समाज सेवा करने की अपनी इच्छा बतायी। गांधी जी ने उसे नया भारतीय नाम दिया—मीरा। यह मीरा भी जीवनपर्यंत अकेली रहीं और गांधी जी की मानस पुत्री थीं।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी पुत्री का नाम मीरा रखा था। टैगोर की एक कहानी है—खेर पत्र (पत्नी का पत्र) स्त्री = पत्नी। इस कहानी की नायिका है मृणाल। वह अपने पति और परिवार द्वारा 15 वर्षों तक सतायी जाती है। अन्ततः वह अपने पति और परिवार को छोड़ देने का निर्णय लेती है और ऐसा करते हुए वह मीराबाई को उद्धृत करती है—मीराबाई भी मेरी तरह एक स्त्री थी, उसके पांवों की जंजीरें भी मेरे पांवों की जंजीरों से हल्की न थीं। कहानी में मृणाल अपना पत्र इन शब्दों के साथ समाप्त करती है—“आपके चरणों से दुत्कारी आपकी मृणाल।” मृणाल जिस उच्च, संभ्रांत समाज का अंग है, उस समाज की परंपराओं को देखते हुए यह एक सामान्य घटना नहीं है। परंपराओं पर उंगली उठाने और उनके विरुद्ध विद्रोह करने के लिए वह मीरा का उदाहरण प्रस्तुत करती है।

5. उपसंहार—राजपूतों का साम्राज्य तो कभी का समाप्त हो गया परंतु मीरा अभी भी असंख्य लोगों के हृदयों पर राज कर रही हैं। मीरा किसी संप्रदाय की मुखिया नहीं, कोई तात्त्विक ज्ञानी नहीं, आशीर्वाद या शाप देने वाली कोई देवी नहीं। मीरा शुद्ध भक्तिन हैं। उनकी मुख्य बातें दो हैं—राजशाही समाज का त्याग कर साधु-संगत करना एवं सामान्य जनता के साथ मिलकर जीना। मीरा धूल का फूल थीं। महलों को छोड़कर आम जनता के साथ जीवन जिया, इसी ने जनता को उनका प्रेमी बना दिया। मीरा की मूल बात एक है, बस एक—कृष्ण-भक्ति।

मीरा के समकालीन संत सुंदर दास जी लिखते हैं—
श्रीमीरा को करौं प्रणाम, हरि के भक्तन में सरनाम।
तिनको प्रेम बरनि नहिं जाय, सागर तामें जगत समाय।
तिनको प्रेम मानो सागर उमडयो,
देसक देसक बादल घुमडाय। □

व्यवहार वीथी

अपनी गलती स्वीकार करें

नीति-वचन है—गलती करना मानवीय है और क्षमा करना देवत्व। दुनिया में संभवतः एक भी आदमी ऐसा नहीं हुआ होगा जिससे कभी कोई गलती न हुई हो। आदमी तो आदमी भगवान कहलाने वालों से भी एक नहीं अनेक गलतियां हुई हैं। गलती हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है, बड़ी बात है उसको स्वीकार कर सुधार लेना और पुनः उस गलती को न दुहराना। मनुष्य की कमजोरी यह होती है कि जब उससे कोई गलती हो जाती है तब वह उसे जल्दी स्वीकारता तो है ही नहीं उसे सही सिद्ध करने के लिए दलील पर दलील देता चला जाता है और ऐसा करके वह लोगों की दृष्टि में और अधिक छोटा एवं गलत हो जाता है। ऐसा आदमी कभी ऊपर नहीं उठ सकता। वह अपने आत्मीय स्वजनों की दृष्टि से ही गिर जाता है और उसके स्वजन ही उसकी बातों पर ध्यान देना छोड़ देते हैं।

गलती को स्वीकार न करने के पीछे सिर्फ यह भय रहता है कि गलती स्वीकार कर लेने पर लोग मुझे छोटा और गलत न समझने लग जायें। जबकि वास्तविकता यह है कि अपनी गलती को स्वीकार कर लेने पर लोगों में इज्जत बढ़ जाती है कि भले ही इसने भूलवश गलत काम कर डाला परंतु ईमानदारीपूर्वक उसे स्वीकार तो कर रहा है। गलती को स्वीकार लेने वाला आदमी धीरे-धीरे एक दिन सारी गलतियों से ऊपर उठ जाता है। इसके विपरीत गलती को न स्वीकार करने वाला जीवनपर्यंत गलती पर गलती करता चला जाता है और गलती करते-करते ही उसके जीवन का अंत हो जाता है।

जो चीज जितनी खुली हुई रहती है, वह उतनी असुरक्षित होती है और उसके लुट जाने, छीन जाने एवं नष्ट हो जाने की संभावना उतनी ही बढ़ जाती है। जैसे रुपये-पैसे, गहने को आप जितना खुला रखेंगे, प्रकट करते जायेंगे उतना ही उसके लुटने-छीन जाने का डर

रहेगा और जितना आप उसे लॉकर या तिजोरी में रखते जायेंगे उतना ही वह सुरक्षित होता चला जायेगा। ठीक इसी प्रकार अपनी गलती को जितना स्वीकार किया जायेगा और उसे प्रकट किया जायेगा उतना ही वह दूर-नष्ट होती चली जायेगी और आप उससे बच जायेंगे। यदि इसके विपरीत अपनी गलतियों को जितना अस्वीकारते-छिपाते जायेंगे उतना ही वे और पुष्ट-बलवती होती जायेंगी। बार-बार वही गलतियां होती रहेंगी। गलतियों को अस्वीकारने-छिपाने का मतलब है उन्हें अभयदान देना।

कमजोर मन-हृदय का आदमी अपनी गलतियों को स्वीकार नहीं कर सकता। उसे तो बलवान-मजबूत मन-हृदय वाला ही स्वीकार कर सकता है। यदि कोई किसी क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहता है और कुछ करके दिखाना चाहता है तो उसे यह स्वीकार करना होगा कि गलतियों और असफलताओं की गलियों से गुजर कर ही वह सफलता की मंजिल तक पहुंच सकता है। बिना असफल हुए और बिना गलती किये आज तक कोई कुछ सीख नहीं पाया है।

पहले यह समझना होगा कि गलतियां किससे होती हैं और असफल कौन होता है? जो कुछ कर रहा है या करने का प्रयास कर रहा है उसी से गलतियां होंगी और वही कभी असफल होगा। जो कुछ करता ही नहीं उससे न कोई गलती होगी और न वह कभी कोई काम कर ही पायेगा। उसके जीवन का विकास ही रुक जायेगा। जो इस डर से काम शुरू ही नहीं करता कि कोई गलती न हो जाये, काम बिगड़ न जाये, गलती होने पर लोग क्या कहेंगे, भला, उसके द्वारा कभी कोई रचनात्मक काम कहीं हो सकता है! इसलिए लोगों की टीका-टिप्पणी की परवाह किये बिना कोई रचनात्मक काम करना शुरू कीजिए और गलती होती है तो होने दीजिए, उससे डरें नहीं, किन्तु साहसपूर्वक उस गलती को स्वीकार कीजिए। वही गलती आपको आगे का रास्ता दिखायेगी और ऊपर उठायेगी।

यदि आपसे कोई गलती हुई है तो उसका दोष किसी और को न दें। उसकी जिम्मेदारी स्वयं लें। अपनी

गलती का कारण भाग्य, परिस्थिति, किसी व्यक्ति या किसी अन्य को बताना अपनी जिम्मेदारी से बचने का झूठा बहाना मात्र है। ऐसा करके आप अपनी गलतियों से कभी मुक्त नहीं हो सकते। आपसे कोई गलती हुई है तो उसकी जिम्मेदारी स्वयं लें और यह समझने की कोशिश करें कि वह गलती क्यों हुई? और अगली दफा सावधान रहें कि वह गलती पुनः न होने पाये। किसी गलती को बार-बार दोहराते रहने का अर्थ है गलती का स्वभावगत हो जाना और उसके प्रति ग्लानि कर उसके सुधार के लिए प्रयत्न न करना।

कुछ लोगों की यह आदत हो जाती है कि किसी गलती को वे बार-बार दोहराते रहते हैं और जब उन्हें इसके लिए टोका जाता है तब हर बार वे यही कहते हैं कि क्षमा करियेगा, अब आगे ऐसी गलती नहीं होगी या नहीं करूंगा। इसका अर्थ है कि वह गलती उसके अचेतन मन में रच-पच गयी है, इसलिए बार-बार उसका दोहराव हो रहा है, किन्तु चेतन मन से जागृत-सावधान होकर वह उसके सुधार के लिए ठीक से प्रयत्न नहीं कर रहा है। ऐसे व्यक्तियों की इस प्रकार की गलती पर न तो बहुत ध्यान देने की आवश्यकता है और न उस पर चिढ़ने-झुंझलाने की, किन्तु उनके प्रति सहानुभूति रख कर उनसे प्रेमपूर्वक व्यवहार करके उनका सुधार किया जा सकता है।

साहसपूर्वक अपनी गलती की स्वीकृति और उसकी अभिव्यक्ति व्यक्ति के व्यक्तित्व को बहुत ऊपर उठा देती है और सामने वाला व्यक्ति भी उससे प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकता। इस संदर्भ में महात्मा गांधी के जीवन की एक घटना अत्यंत मार्मिक है—

बात उन दिनों की है जब भारत में अंग्रेजों का राज्य था। उनका शोषण चक्र और दमन हर तरफ चल रहा था। सबसे बुरी हालत तो किसानों की थी। चम्पारन (बिहार) के किसानों से अंग्रेज नील की खेती करवाते थे और उनका शोषण करते थे। वहां के किसानों के बुलाने पर गांधी जी मुजफ्फरपुर पहुंचे। वहां के अंग्रेज कमिश्नर ने गांधी जी से कहा कि वे शीघ्र ही मुजफ्फरपुर छोड़कर चले जायें। गांधी जी ने कहा कि

भारत हमारा देश है और हम इसमें कहीं भी जा सकते हैं। गांधी जी जब चंपारन पहुंचे तब जिला मजिस्ट्रेट ने नोटिस जारी की कि गांधी जी चौबीस घंटे के अंदर चंपारन छोड़कर चले जायें। इसके उत्तर में गांधीजी ने लिखा कि मैं यहां जो काम करने आया हूं वह करके ही जाऊंगा, उसके पहले नहीं। मजिस्ट्रेट ने उनके नाम से सम्मन निकाला कि वे अदालत में हाजिर हों। गांधी जी अदालत में हाजिर हुए। सरकारी वकील ने कहा कि सरकारी आज्ञा का उल्लंघन कर गांधी जी ने अपराध किया है। मजिस्ट्रेट एवं सरकारी वकील सोचते थे कि देखें, गांधी जी इसका क्या उत्तर देते हैं। गांधी जी ने कहा—निश्चित ही मैंने सरकारी आज्ञा का उल्लंघन किया है इसलिए मैं दोषी हूं और सरकार मुझे इसके लिए दंड दे सकती है, परंतु मैं अपने जिन पीड़ित भाइयों की सेवा करने यहां आया हूं उसे किये बिना मैं यहां से नहीं जा सकता। गांधी जी की इस स्वीकारोक्ति का मजिस्ट्रेट एवं सरकारी वकील पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा, क्योंकि ऐसा स्पष्ट कहने वाला उन्हें आज तक कोई मिला नहीं था।

अपनी गलती को स्वीकार करना, वह भी सबके सामने, जितना कठिन है, उससे ज्यादा कठिन है उस गलती के लिए क्षमा मांगना, और वह भी यदि अपने से छोटों से मांगना पड़े तब तो और। परंतु यदि हम अपनी गलतियों से छुटकारा पाना चाहते हैं तो उसके लिए एक ही रास्ता है उसको स्वीकार करना और उसके लिए क्षमा मांगना। क्षमा चाहे अपने से बड़ों से मांगनी हो या छोटों से—इसमें न तो अपने अहंकार को आड़े आने देना चाहिए और न किसी प्रकार का संकोच होना चाहिए। क्षमा मांगना और क्षमा करना कमजोरी नहीं है, किन्तु सच्ची वीरता है और बड़प्पन है। कमजोर दिल वाला आदमी न क्षमा कर सकता है और न क्षमा मांग सकता है।

क्षमा करने की अपेक्षा क्षमा मांगना और ज्यादा कठिन है, क्योंकि क्षमा करने में तो लोगों की दृष्टि में ऊपर उठने एवं प्रशंसा पाने की आशा रहती है, किन्तु क्षमा मांगने में लोगों की दृष्टि में छोटा एवं कमजोर सिद्ध

होने का भ्रम रहता है। यदि हमसे कोई गलती हो गयी है तो उसके लिए क्षमा मांगकर तथा पुनः उस गलती को न दुहराकर उसकी भरपाई की जा सकती है।

बड़ी गलतियां तो कभी-कभार होती हैं ज्यादातर तो आदमी से छोटी गलतियां होती हैं और यही छोटी गलतियां परस्पर के व्यवहार को बिगाड़ती हैं एवं घर-परिवार-समाज की एकता-समता को नष्टकर सब जगह नरक बनाती हैं। अक्सर देखा जाता है कि पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-भाई, सास-बहू, पड़ोसी-पड़ोसी के बीच कलह, तनाव, झगड़े, यहां तक संबंध-विच्छेद का कारण छोटी-छोटी गलतियां ही होती हैं। किसी बड़े झगड़े, मार-पीट, मुकदमा आदि के मूल में कोई छोटी बात या छोटी गलती ही होती है। क्या कारण है कि बहुत दिनों का प्यार-व्यवहार, मधुर संबंध एक छोटी बात या गलती के कारण टूट जाता है। जो दो व्यक्ति एक-दूसरे के लिए जीने-मरने एवं जीवन भर साथ निभाने के लिए कसमें खाते थकते नहीं थे, वे ही एक दूसरे से बात करना तो दूर एक-दूसरे की शकल भी नहीं देखना चाहते।

इसमें मूल कारण है मिथ्या स्वार्थ, अहंकार, अपनी गलती को स्वीकार कर क्षमा न मांगना और किसी से गलत बात-व्यवहार पाकर प्रतिक्रिया में वैसा ही गलत बात-व्यवहार करना। परंतु यह सहज समझा जा सकता है कि गलत बात-व्यवहार का उत्तर गलत बात-व्यवहार से देना, जैसे गाली का उत्तर गाली से, क्रोध का उत्तर क्रोध से देना कभी किसी के लिए हितकर नहीं होता है। यह नियम है कि वैर से वैर, क्रोध से क्रोध, घृणा से घृणा, गाली से गाली कभी शांत नहीं होते, अपितु और बढ़ जाते हैं। प्रेमपूर्ण सद्व्यवहार से ही वैर, क्रोध, घृणा, गाली शांत होते हैं।

यदि अपने से गलती हो गयी तो सामने वाले द्वारा बताने या सचेत करने पर उसको सही सिद्ध करने का प्रयास न करें, अपितु सहज-सरल मन से उसको स्वीकार कर लें और उसके लिए क्षमा मांग लें। यदि सामने वाले से गलती हुई है तो प्रतिक्रिया में पड़कर स्वयं वैसी गलती न करें। इससे परस्पर का व्यवहार-संबंध टूटने से तो बचेगा ही, परस्पर का संबंध मधुर

बना रहेगा और आप अधिक निश्चिंतता के साथ कोई काम कर सकेंगे और जीवन को अधिक आनंददायक बना सकेंगे।

लेकिन गलती स्वीकार करने में पूरी ईमानदारी हो, इसमें किसी प्रकार का छल-कपट या दिखावा न हो। मामला अधिक न बिगड़े इसके लिए या तात्कालिक लाभ के लिए आपने गलती स्वीकार कर उसके लिए क्षमा भी मांग ली, लेकिन अंदर मन में उस गलती के लिए कोई पछतावा-पश्चाताप नहीं है और उस गलती के सुधार के लिए कोई चेष्टा नहीं है, तो यह स्वीकारोक्ति एवं क्षमा याचना आपकी मजबूरी है। इससे आपके जीवन में कोई परिवर्तन-सुधार तो होगा ही नहीं, देर-सबेर सामने वाले को जब आपकी विवशता-मजबूरी समझ में आयेगी तब उसके मन में आपके लिए कोई जगह-प्यार नहीं रह जायेगा और उसकी दृष्टि में आपकी छबि एक स्वार्थी एवं कपटी व्यक्ति की बन जायेगी। इस हानि से बचने का एक ही उपाय है कि जब अपने से कोई गलती हो जाये तो उसकी स्वीकारोक्ति खुले दिल से और निष्छल मन से करें। सामने वाले को अहसास करायें कि आपने अपनी गलती सचमुच में खुले दिल से स्वीकार कर ली है और आपको इस गलती के लिए पश्चाताप भी है।

खुले दिल से गलती को स्वीकार कर लेने एवं उसके लिए विनम्रतापूर्वक क्षमा मांग लेने पर सामने वाले के मन में आपके प्रति कोई दुर्भाव नहीं रह जायेगा और उसके मन में आपके लिए पूर्ववत प्यार, सम्मान बना रह जायेगा, परंतु कोई आपकी स्वीकारोक्ति एवं क्षमा याचना को आपकी कमजोरी समझता हो तो उसे दृढ़तापूर्वक यह बता दें कि यह आपकी कमजोरी नहीं है और किसी लाभ की आशा से आपने यह स्वीकारोक्ति नहीं की है, अपितु आत्मोत्थान, आत्मसुधार के लिए यह आपकी सहज स्वीकारोक्ति है।

नाना धार्मिक मतों में जो यह विधान किया गया है कि साधक अपने इष्ट के सामने अपने अवगुणों-विकारों को पूरी तरह खोलकर रख दें उसके पीछे यही रहस्य है कि आदमी दूसरे आदमियों के सामने भले अपनी गलतियों को प्रकट या स्वीकार न कर सके, अपने इष्ट

के सामने तो स्वीकार करे। इससे उसका मन मजबूत होता जायेगा और धीरे-धीरे ऐसा मजबूत हो जायेगा कि वह साहसपूर्वक दूसरे आदमियों के सामने अपनी गलतियों को स्वीकार कर सकेगा।

अपनी गलतियों का अहसास करना, सबके सामने उन्हें सच्चाई से विनम्रतापूर्वक स्वीकार करना और मन में बिना किसी प्रकार की हीन भावना लाये निःसंकोच उनके लिए क्षमा याचना करना अपनी गलतियों से ऊपर उठने का सबसे सुंदर और सुगम रास्ता है। गलती सबसे होती है, आपसे हो गयी तो कौन बड़ी बात हो गयी। हां,

जान बूझकर और किसी को चिढ़ाने के लिए गलती न करें। ऐसा करना स्वयं अपने प्रति अपराध करना और अपने हाथों अपने जीवन को बिगाड़ना-बरबाद करना है। जो काम करें, जो बात बोलें सावधानीपूर्वक एवं सोच-समझकर करें-बोलें। फिर भी गलती हो जाये तो सहज भाव से स्वीकार कर उसके लिए क्षमा मांग लें। गलती को स्वीकार करना और उसके लिए क्षमा मांगना कमजोरी नहीं, अपितु बहादुरी का, बड़प्पन का लक्षण है।

—धर्मेन्द्र दास

कहानी

अन्तिम संस्कार

लेखक—श्री लखन प्रतापगढ़ी

फुलपतिया की मृत्यु का समाचार पूरे गांव में फैल गया। आसपास के लोगों की भीड़ उसके दरवाजे पर जमा होने लगी। कोई कहता वह बड़े अच्छे स्वभाव की थी, तो कोई उसकी उदारता का गुणगान करता। कोई उसे देवी बताता, तो कोई लक्ष्मी का अवतार। कोई उसके साथ बिताये पूर्व पलों को याद कर रोता, तो कोई उसकी नेकदिली का स्मरण कर भावुक हो उठता। कोई कहता, अब ऐसे नरम दिल की औरत मिलना मुश्किल है, तो कोई उसकी फूटी किस्मत को कोसता।

सभी उसके पूर्व जीवन का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने में लगे थे कि वहां नव निर्वाचित ग्राम प्रधान तारक चन्द्र भी आ गये। उन्होंने कुछ दूर पर ही अपनी मोटर साइकिल खड़ी किया और शीघ्रता से आगे बढ़े। भीड़ को चीरते हुए अन्दर पहुंचे तो देखा कि एक टूटी चारपाई पर फुलपतिया का निर्जीव शरीर पड़ा था। उसके खुले मुंह पर मक्खियां भिनक रही थीं। उसकी बहू ललिता और पोती चन्द्रा सिरहाने की ओर बैठी बिलख रही थीं। प्रधान जी को देखते ही ललिता फूट-फूट कर रोने लगी। जैसे वह अपने विलाप में अपनी दीन दशा को सबके सामने रख देना चाहती हो। उसके

विलाप को सुनकर प्रधान जी की भी आंखों में आंसू आ गये। उन्होंने उसे ढाढस बधाया। गांव वालों की मदद से शव को बाहर निकाला और उस पर एक चादर डलवा दिया।

प्रधान जी ने इधर-उधर देखकर ललिता से पूछा “आखिर महेश कहां चला गया है? कम-से-कम आज तो उसे यहां रहना चाहिए।” प्रधान जी की बात सुनकर ललिता कुछ बोलती उससे पहले भीड़ में से सजीवन काका बोल पड़े, “गया होगा रोज की तरह ही गांजा पीने। मां मर गयी उसे क्या? घूम रहा होगा लफंगों के साथ।” प्रधान जी को विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने चन्द्रा से पूछा “गुड़िया, पापा कहां गये हैं? क्या कुछ बता कर नहीं गये।” चन्द्रा सिसकते हुए बोली “सुबह ही दो लोग फिटफिटिया से आये थे। पापा उनके साथ चले गये। मम्मी ने पूछा तो बोले ‘दादी की दवा लाने जा रहा हूं। फिर अभी तक नहीं लौटे।’ इतना कह कर वह ललिता की गोद में सिर डाल कर जोर-जोर से रोने लगी।

फुलपतिया के पति रामचन्द्र रेलवे में नौकरी करते थे। जब तक जीवित थे तब तक फुलपतिया के घर की स्थिति अच्छी थी। पक्का घर था। दरवाजे पर बड़े-बड़े

बैल और तीन-तीन मुराँ भैंसे बंधी रहती थीं। दूध-दही से घर भरा था। फुलपतिया के हाथ का घोला मट्टा पूरे गांव में प्रसिद्ध था। अचार और सिरका बनाने में वह माहिर थी। खटाई तथा दाल की बड़ी बनाने पूरे गांव में जाया करती थी। सोहर, कजरी, फगुआ गाने में कोई उससे आगे न बढ़ पाता। शादी-विवाह, जन्मदिन आदि अवसरों पर उसे गाने के लिए शौक से बुलाया करते। रामचन्द्र जब कभी घर आते तो उनके लिए खास पकवान बनाया करती और जब जाने लगते तो गुड़-खटाई, अचार, सत्तू और न जाने क्या-क्या उनके झोले में जबरदस्ती रख देती। रास्ते के लिए खोये की मिठाई और पेड़े अलग से बांध देती। घर में अच्छा पकवान बनाती तो उसे पड़ोसियों के घर जरूर पहुंचाती।

फुलपतिया के चार बेटे और दो बेटियाँ थीं। बेटियों की शादी रामचन्द्र ने जल्दी ही निपटा ली थी। उनके मरने के बाद बड़े लड़के प्रेम को मृतक आश्रित कोटे में नौकरी मिल गयी। वह मुम्बई में रहने लगा था। अचानक सरकारी पैसा देखा तो उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी। उसने एक शहराती लड़की से लव मैरिज कर लिया। इसका पता जब फुलपतिया को चला तो वह बहुत नाराज हुई और कसम खा ली कि वह अब उसके पास कभी नहीं जायेगी। प्रेम कई बार बुलाया भी किन्तु वह अपनी बात पर अड़ी रही और प्रेम भी घर आना बन्द कर दिया। बीच के दो लड़के पढ़ाई छोड़कर खेती किसानी में लग गये थे। अपनी बुरी लत के कारण दूसरे नम्बर का लड़का मनकेश भी टी.बी. का मरीज हो गया और जल्दी ही भगवान को प्यारा हो गया। बहू मायके चली गयी फिर आयी ही नहीं। उसके बाद वाला इन्द्रेण ससुराल में जमीन-जायदाद पा गया। उसके ससुर के और कोई औलाद न थी। अतः उसने अपनी सारी सम्पत्ति बेटी सुनीता के नाम कर दिया।

फुलपतिया को यह बात भी नागवार लगी। वह नहीं चाहती थी कि उसका बेटा अपने पिता की बनी बनाई सम्पत्ति छोड़ कर ससुराल में बसे। किन्तु इन्द्रेण अपनी पत्नी से मजबूर था। वह फुलपतिया को पसन्द नहीं करती थी। लम्बे परिवार में नहीं रहना चाहती थी। अतः इन्द्रेण एक दिन बीबी-बच्चों के साथ अपनी

ससुराल फूलपुर चला गया फिर कभी नहीं आया।

अब छोटा बेटा महेश ही फुलपतिया का सहारा था। उसके सारे स्तम्भ टूट चुके थे। उसका सारा साम्राज्य बिखर चुका था। महेश की शादी उसे जल्दी करनी पड़ी। सौभाग्य से बहू का स्वभाव अच्छा था। वह उसकी सेवा प्रेम से किया करती थी।

महेश बचपन में ठीक था, परिश्रमी और आज्ञाकारी था। किन्तु उसको भी कुसंग का ज्वर लग गया। गांव के फालतू लड़कों के साथ रहकर उसकी लत बिगड़ गयी। फुलपतिया दस हजार महीने की पेंशन पाती थी। महेश को बैठे-बैठाये यह रकम मिल जाती। काम करना वह अपनी बेज्जती समझने लगा। गांजा, शराब, बीड़ी-सिगरेट ही उसके खाद्य एवं पेय बन गये। वह सुबह घर से निकलता तो शाम को ही लौटता। फुलपतिया अगर कुछ कहती तो उसे घुड़क लेता। पत्नी और बेटी को पीटना उसके लिए प्रतिदिन का खेल बन चुका था।

फुलपतिया अब सत्तर साल की अवस्था पार कर चुकी थी। शरीर के अंग-प्रत्यंग धीरे-धीरे जवाब दे रहे थे। वह महेश की गंदी आदतों से परेशान थी। इसी चिन्ता में वह बीमार पड़ गयी और कभी ठीक न हो सकी। कई बार उसने सोचा था कि पेंशन का पैसा खुद रखेगी किन्तु जैसे ही वह खाते में आ जाती, महेश पहले ही सक्रिय हो जाता। अचानक उसका प्रेम फुलपतिया के प्रति दूना हो जाता। उसकी सुख-सुविधाओं का ध्यान देने लगता। दवा, फल आदि ले जाता। पेंशन वाले दिन उसे नहला धुलाकर साइकिल से बैंक ले जाता। बैंक वालों से उसकी पहले से सांठ-गांठ रहती। फुलपतिया तो बस अंगूठा लगाती। पैसों का मुंह देखना उसे नसीब न होता।

प्रधान जी को फुलपतिया के अन्तिम संस्कार की चिन्ता हो रही थी। दोपहर का समय बीत चुका था। बहुत दूढ़ने के बाद भी महेश का कहीं पता नहीं चला। उसका मोबाइल स्वीच आफ बता रहा था। सूचना पा कर दोनों बेटियाँ रंजना और वन्दना तो आ गयी थीं किन्तु बेटों के बिना अन्तिम संस्कार कौन करता?

प्रधान जी ने बड़े बेटे प्रेम को फोन लगाया। उसने आने से साफ मना कर दिया बोला, “उनके लिए तो

महेश प्यारा था। आज कहां है उनका लाड़ला महेश? हम लोग तो उनके लिए पहले ही मर चुके थे। मैं नहीं आ पाऊंगा।”

इसी बीच इन्द्रेण को जो लड़का बुलाने गया था, वह भी निराश लौट आया। उसने बताया कि इन्द्रेण चाचा नहीं आयेंगे। उनका कहना है कि “जिसने मां की पेंशन खायी है वही अन्तिम संस्कार भी करे। मां ने हमारे लिए क्या किया। अगर ससुराल न होती तो मेरे बच्चे खाये बिना मरते।” लड़के की बात सुनकर वहां जुटे लोग ठकरा मार गये। वे सोचने लगे चार-चार बेटों की मां फुलपतिया का कितना दुर्भाग्य है कि आज उसे मुख्वाग्नि देने को कोई नहीं है।

भीड़ में उपस्थित ललई काका ने कहा, “हाय रे जमाना! दुनिया स्वारथ मा चूर बा। ऐसन समय मा सब कुछ भुलाई देइ चाही। आखिर इहै तउ पैदा केहेस। पालेस-पोषेस और बड़ा केहेस। मति मारि गई बा यही कलयुगी लड़िकन कइ।” मतोला काकी से भी रहा नहीं गया बोली “आज कल कई लरिका बीबिन का गुलाम अहां। उ जेतनइ कहा थै सब उतनइ करा थेन।” “ठीक कहत बाटू काकी।” भीड़ से आवाज आयी।

अब समय काफी हो चुका था। भगवान भास्कर अस्ताचल की ओर प्रस्थान कर रहे थे। उनकी देह लाल पड़ती जा रही थी। महेश का अभी भी कोई अता-पता नहीं था। फुलपतिया के शव का अन्तिम संस्कार जरूरी था। उसे ज्यादा देर तक नहीं रखा जा सकता था। सब इसी उहापोह में पड़े थे कि बेटों के बिना अन्तिम संस्कार कौन करेगा? इतने में फुलपतिया की बड़ी बेटी रंजना सामने आ गयी। उसने कहा, “मैं करूंगी अम्मा का अन्तिम संस्कार। मैं दूंगी उन्हें मुख्वाग्नि। अम्मा के बेटे नालायक हैं तो क्या, उनकी बेटियां अभी जिन्दा हैं।” सबकी निगाहें रंजना पर टिक गयीं। जैसे करुणा में वीर रस जागृत हो गया हो। ऐसा लगा कि समस्या का समाधान हो गया। किन्तु वहां उपस्थित सत्यवान मिसिर को यह बात न जंची। उन्होंने आपत्ति जताते हुए कहा, “हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार महिलाओं द्वारा अन्तिम संस्कार वर्जित है। रंजना औरत होकर फुलपतिया को

मुख्वाग्नि कैसे दे सकती है।” सहसा रंग में भंग पड़ गया। सब सत्यवान मिसिर का मुंह ताकने लगे। कुछ लोग हां में हां मिलाने लगे “मिसिर ठीक कहत बाटेन। ई धर्मग्रन्थन के बिरुद्ध बा। का आज नई परम्परा डाली जाये?” प्रधान जी को कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि वे क्या करें? इतने में लल्ली बुआ ने मोर्चा संभाला। वह थोड़ा पढ़ी-लिखी थी और पुरानी परम्पराओं के विरुद्ध कार्य करती थी। उन्होंने कहा, “आज औरतें क्या नहीं कर रही हैं? हर जगह मर्दों से आगे हैं। आज बेटों के न रहने पर मां-बाप के लिए बेटियां ही उत्तरदायी हैं। उनको उनकी सम्पत्ति पर भी अधिकार मिलता है, तो बेटियां उन्हें मुख्वाग्नि क्यों नहीं दे सकतीं।” मिसिर को यह बात पसन्द न थी कि कोई महिला मर्दों से जबान लड़ाये। उन्होंने कहा—“लल्ली तुम चुप रहो। तुम्हें नहीं मालूम कि यह शास्त्रसम्मत नहीं है।” शास्त्रों की बात सुनकर रंजना से रहा न गया उसने कहा—“काका! आप शास्त्र की बात करते हैं। क्या आपको मालूम नहीं है कि राजा हरिश्चन्द्र के बेटे की जब सर्प के काटने से मृत्यु हुई थी, तो उसका अन्तिम संस्कार किसने किया था? उसकी मां ने ही तो। यह तो शास्त्रों में ही लिखा है न। क्या रोहित की मां औरत नहीं थी?”

सबका ध्यान रंजना की ओर चला गया। भीड़ में से कई लोग उसका समर्थन करने लगे। सत्यवान मिसिर निरुत्तर हो गये। प्रधान जी ने कहा, “देखो भाई, जरूरी नहीं कि हम पुरानी परम्पराओं को ही ढोते रहें। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। आज समाज की मांग यही है कि बेटों का हर स्थान बेटियां लें। तभी समाज में समानता आयेगी। अतः रंजना ही आज अपनी मां को मुख्वाग्नि देगी।”

जल्दी-जल्दी सारी तैयारियां पूरी की गयीं। गांव वाले फुलपतिया के शव को कन्धा दिये। उसे मुक्ति धाम घाट ले गये। रंजना ने नम आंखों से अम्मा को मुख्वाग्नि दी और जोर-जोर से रोने लगी। अन्य लोगों की भी आंखें भर आयीं। सभी ने फुलपतिया को नम आंखों से अन्तिम बिदाई दी। □

मुक्तिदाता

लेखक—श्री धर्मदास

(गतांक से आगे)

कबीर के उक्त विविध रूपों से यह सिद्ध है कि लोकनायक लोक जीवन की सामयिक समस्या उठावे और जनकल्याण के हित में अपने प्राण की बाजी लगाने में भी संकोच न करे तब 'लोकनायकत्व' सार्थक है अन्यथा नहीं। लेकिन क्रांति के मार्ग में हिंसा पनपने का बड़ा खतरा होता है क्योंकि शोषक किसी भी हालत में शोषण जारी रखना चाहता है। अतः कबीर की दो बातें स्मरण होती हैं। एक है—'कबिरा खड़ा बाजार में लिये लुकाठी हाथ। जो घर जारे आपना चले हमारे साथ'। अर्थात् जो भी हमराह बनने का इच्छुक हो उसे अपना घर जलाने के लिए तैयार रहना चाहिए परन्तु दूसरे का नुकसान न हो। दूसरी बात है—

'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय। ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय।।' अर्थात् हमारे विचार से समाज में क्रांतिकारी बदलाव के लिए धर्मशास्त्रों के विधान का कोई स्थान नहीं होना चाहिए। प्रेम का पाठ पढ़नेवाला ही क्रांति का सूत्रधार बने। जहां तक संत कबीर में प्राणपण की भावना का प्रश्न है यह तो सत्ताधारियों, मठाधीशों एवं काजियों पर उनके हमलावर तेवर से ही सिद्ध है। तथापि सिकन्दर लोदी और कबीर के आमना-सामना के प्रसंग में यदि थोड़ी सी भी सच्चाई है तो यह दर्शाता है कि कबीर लोकजीवन के अगुआ की भूमिका में पंक्ति के आगे खड़े थे। (अनेक देशी-विदेशी विद्वानों ने उल्लेख किया है कि सिकन्दर लोदी ने संत कबीर को यातना देने का अनेक प्रयत्न किया था। परन्तु पागल हाथी ने कुछ नहीं बिगाड़ा तथा नदी में डुबाने के प्रयास के बावजूद वे जीवित रह गये)। 'अब का डरू डर डर ही समाना'। 'जे मरने से जग डरे मेरे मन आनंद, कब मरिहौं कब पाइहौं पूरन परमानन्द'—जैसे पद्यांश उनकी निर्भयता का परिचायक हैं और अगुआ यदि निडर है तो अनुयायी भी निडर होता है।

संत कबीर जिस सामाजिक बदलाव की ओर अग्रसर थे वह उतना सरल न था। सुविधाभोगी वर्ग, विशेषकर काजी-मुल्ला, पंडा-पुरोहित, तांत्रिक-हठयोगी, धर्माचार्य-मठाधीश तथा सामंत-नवाब एवं उनके मजबूत संगठन पग-पग पर प्रतिरोध कर रहे थे। इतिहास एवं साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि भारतीय समाज के सभी दौर में ब्राह्मण प्रभुत्वशाली रहा है। उस वर्ग में ऐसे लोगों की कमी नहीं रही है जो स्वजातीय हित साधना हेतु ऐसे शास्त्रों और कर्मकांडों की रचना करते रहे हैं जिनसे उनकी श्रेष्ठता कायम रह सके। धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों की रचना करके वर्णाश्रम विधानों के द्वारा भारतीय समाज को खंड-खंड करना उनमें से एक है।

*'जो तू करता वर्ण बिचारा, जन्मत तीनि दण्ड अनुसार
जन्मत शूद्र मुये पुनि शूद्रा, कृतम जनेऊ घालि जग धंधा
जो तू ब्राह्मण ब्राह्मणि को जाया, और राह दे काहे न आया'*
(बी.र. 62)

वसिष्ठ धर्मसूत्र (4/) कहता है : 'गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यं'—गायत्री छंद से ब्राह्मण, त्रिष्टुप छंद से क्षत्रिय, और जगती छंद से वैश्यों को बनाया गया है; 'न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्यो विज्ञायते'—परन्तु उसने शूद्रों को किसी भी छंद से नहीं बनाया। आश्वलायन गृह्यसूत्र (1/19 व 20) के विधान से ब्राह्मण-बालक पलाश-दण्ड, क्षत्रिय-बालक गूलर-दण्ड तथा वैश्य-बालक बेल-दण्ड (डण्डा) यज्ञोपवीत के अवसर पर धारण करता है। इसी पर कबीर का प्रश्न है : जब ईश्वर ने तुम्हें छंदों से उत्पन्न किया तो द्विजों को उन्हीं तीन प्रकार के दंड लेकर पैदा होना चाहिए था। वस्तुतः जन्म के समय द्विज न डण्डा लेकर पैदा होते हैं और न यज्ञोपवीत पहनकर, यानी जन्म से सभी शूद्र हैं। जन्मकाल और मृत्युकाल दोनों अवस्थाओं में अशुद्ध

होकर शूद्र ही रहता है। बीच के काल में बनावटी जनेऊ पहन लेते हैं और संसार में छल-कपट का धंधा करते हैं। जनेऊ संस्कार के उपरान्त द्विजों को वेद-शास्त्रों के अध्ययन करने का अधिकार प्राप्त होता है। तात्पर्य बनावटी जनेऊ-संस्कार से अधिसंख्यक जनसमूह को वेद से वंचित करने का एक षड्यंत्र है। प्रश्न को गम्भीरता प्रदान करते हुए कबीर कहते हैं कि न तो तू डण्डा लेकर पैदा हुआ और न जनेऊ पहनकर फिर भी श्रेष्ठता प्रदान करते हुए तुम्हें किसी दूसरे राह से ईश्वर ने क्यों नहीं भेजा?

संत कबीर निष्पक्ष विचार के प्रवक्ता थे। विभेदकारी संस्कार हिन्दुओं में हैं तो मुसलमानों में भी हैं। कहते हैं—‘जो तू तुरुक तुरुकनि को जाया। पेटहि काहे न सुन्नति कराया’। तत्कालीन मुसलमान समाज में भी ‘शरीफ’—उच्च कुलोत्पन्न तथा ‘कमजात’—निम्न कुलोत्पन्न का फर्क व्यापक था। तुर्की मूल के मुसलमान खुद को शरीफ कहते थे तथा हिन्दू से बने मुसलमानों को कमजात कहकर जलील किया जाता था। कबीर खुद भी इसी श्रेणी के थे। इसीलिए शरीफों से उन्होंने पूछा कि अगर तुम तुर्की मां के असली मुसलमान बेटा हो तो फिर खुदा ने तेरा सुन्नत पेट में ही क्यों न कर दिया?

अनेक लोग आरोप लगाते हैं कि कबीर की बानियां या तो आलोचनात्मक हैं या प्रश्नवाचक, समस्याओं का निदान नहीं मिलता। किन्तु आरोप सत्य नहीं है। तर्कों की कसौटी पर ही सच सिद्ध होता है। ऊपर की पंक्तियों में धर्मशास्त्रों के विधानों से उत्पन्न सामाजिक रूढ़ियों पर प्रकाश डाला गया है जिन विधानों से वर्ण-आश्रम आधारित उच्च-नीच एवं शरीफ-कमजात की मानसिकता दृढ़ हुई है। इसे स्वतंत्र भारत का संविधान भी व्यवहार से मिटाने में असफल हुआ है। धर्मशास्त्रों की आलोचना एक जगह मिलती है तो उसका तात्पर्य दूसरी जगह; जैसे—

अंध सो दर्पण वेद पुराना। दर्बी कहा महारस जाना॥
जस खर चंदन लादेउ भारा। परिमल बास न जानु गंवारा॥

(बी.र. 2)

अंधों के लिए दर्पण बेकार है और करछुल के लिए स्वादिष्ट भोजन। दर्पण आंख वालों को उनकी छवि दिखलाता है और स्वादिष्ट भोजन का आनंद जीभ वालों को मिलता है। अंधों के लिए दर्पण और करछुल के लिए स्वाद बेमतलब के हैं। जैसे गधा सुगंध भरी चन्दन की गांठ भले ढोता है पर मूर्ख पशु चंदन की सुगंध नहीं जानता, ठीक उसी प्रकार शास्त्रों का बोझ ढोने वाला भी शास्त्रों के ज्ञान से अनजान ही रह जाता है यदि वह विवेकवान नहीं है।

क्योंकि ‘बंधवत बन्धा छोरियो न जाई (र.)’ इनके बंधनों को बांधते-बांधते स्वयं को ऐसा जकड़ लेता है जिन्हें छुड़ा पाना संभव नहीं होता।

संत कबीर समाधान भी करते हैं जिससे सामाजिक-साम्प्रदायिक संतुलन, सद्भाव और भाईचारा का विकास हो सके :

अल्लाह राम करीमा केशव, हरि हजरत नाम धराया।
गहना एक कनक ते गहना, यामें भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ कर थापे, एक निमाज एक पूजा।
वेद-कितेब पढ़ै वै कुतबा, वै मौलना वै पांड़े।
बेगर-बेगर नाम धराये, एक मिट्टी के भांड़े।

(बी.श. 0)

धार्मिक कट्टरता से मुक्ति दिलाने की दिशा में तब यह बड़ा पहल था उस युग में जब जबरन धर्म परिवर्तन के लिए राजकीय सत्ता सतत क्रियाशील हुआ करती थी। जो भी कोई किसी विशेष जाति या धर्म के खूंटे में बंध जाता है वह दूसरों का बंधन नहीं छुड़ाता। संत कबीर का सब कोई अपना था लेकिन पराया कोई नहीं था। उन्होंने कहा कि ‘ना काहू से न्यारा हुआ, ना काहू के संगी हो’ (क. क. 46) मानवीय एकता की परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा—पांच तत्त्व का पूतरा, मानुष धरिया नांव। इसी भाव को दर्शाने के लिए कभी ‘पंचरंग चोल’ तो कभी ‘पांच तत्त्व की बनी चुनरिया’ कहते हैं। जैविक एकता के उदाहरण में कहते हैं :

“एकै त्वचा हाड़ मल मूत्रा, एक रुधिर एक गूदा।
एक बुन्द से सृष्टि रची है, को ब्राह्मण को शूद्रा॥”

(बी.श. 75)

मनुष्यों के शरीर के मौलिक तत्त्व हड्डियां, मांस, रक्त, मल एवं मूत्र हैं जो सबके शरीर में एक प्रकार के हैं। एक ही प्रकार के वीर्य से ब्राह्मण-शूद्र, हिन्दू-मुस्लिम-ईसाई आदि जातियों के शरीरों का निर्माण हुआ फिर कौन ऊंचा और कौन नीचा। अर्थात् जैविक संरचना की दृष्टि से सभी मानव एक समान हैं। छूत-अछूत, ऊंच-नीच की भावना लाना अनुचित है। अतएव ऐसे विचारों को छोड़ देने से समाज में आपसी मेल-जोल की भावना विकसित होगी।

मूलतः चार वर्ण माने गये थे लेकिन कबीर युग आते-आते सैंकड़ों जातियां बन गईं। कबीर ने साधुओं में 6 जातियों का उल्लेख किया है। “सन्तन जाति न पूछो निर्गुनिया, साधै ब्राह्मण साधै क्षत्रिय, साधै जाति बनिया; साधुन में छत्तीस कौम है, टेढ़ी तोर पुछनिया।” (क.क. 176)

‘असत शूद्रों की संख्या में अपार वृद्धि हुई। पूर्व मध्यकालीन धर्मशास्त्रों में बारह प्रकार के अछूतों की चर्चा हुई है, किन्तु वास्तव में इन जातियों की संख्या शायद इससे बहुत अधिक रही होगी (पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, रामशरण शर्मा, पृ.174-176)।’ रामशरण शर्मा लिखते हैं कि उत्तर भारत में मुसलमानों के आगमन के पूर्व के मध्यकालीन समाज में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए।...ब्राह्मण, कायस्थ और क्षत्रिय या राजपूत जातियों की संख्या में तो वृद्धि हुई ही, लेकिन सबसे ज्यादा बढ़ोत्तरी शूद्र जातियों में हुई। वर्णसंकर जातियों की संख्या में दिन-दूनी रात चौगुनी वृद्धि हुई। इसी तरह अस्पृश्य जातियों की गिनती में भी काफी इजाफा हुआ। इस सामाजिक परिवर्तनों के पीछे सामंती स्थानीयतावाद की प्रबल भावना काम कर रही थी (वही, पृ.178)। शर्मा का मत है कि तंत्र धर्म का उदय पूर्व-मध्यकाल की आर्थिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ। उसमें स्त्रियों, शूद्रों तथा बाहर से शामिल होने वाली जनजातियों को स्थान दिया गया। तंत्र सम्प्रदाय सामाजिक संघर्ष को तीव्रता देने के बजाय सामाजिक

सौहार्द तथा एकता स्थापित करने का धार्मिक प्रयास था। बौद्ध संघों में भी दासों तथा कर्जदारों को स्थान नहीं दिया गया था, किन्तु वर्ण, लिंग आदि के किसी प्रकार के भेदभाव के बिना तंत्र का चक्र सबके लिए खुला था (वही. पृ. 209)।

रामशरण शर्मा के मत का अनेक विद्वान समर्थन करते हैं कि शाक्त एवं तंत्र साधना में अछूत जाति की स्त्रियों को देवी का दर्जा दिया गया तथा सभी को शक्ति की पूजा करने का अधिकार देकर छुआछूत मिटाने एवं सामाजिक सौहार्द विकसित करने का प्रयास था। लेकिन शाक्त एवं तंत्र साधना में पंचमकार का विधान निकृष्ट श्रेणी का है। अतः कबीर की दृष्टि में छुआछूत का व्यवहार एक रोग है तो शाक्त-साधना महारोग है। कबीर साहेब ने कहा—“साकत बाभंण मति मिलै, बेसनौ मिलै चंडाल। अंकमाल दे भेटिए, मानौ मिलै गोपाल।” कबीर ग्रंथावली (पृ.15) में ‘साकत’ शब्द है तो कबीर समग्र में इसी साखी में ‘साकट’ शब्द का प्रयोग है। अतः ‘शाक्त’ शब्द ही कहीं ‘साकत’ तो कहीं ‘साकट’ बन गया है। एक साखी है : ‘साकट से सूकर भला, सूचौ राखै गांव। बूड़ो साकट बापरा, बाइस भरमी नाव।। (क.स.) स्पष्ट है कि शाक्त के आचार एवं साधना पद्धति के प्रति कबीर अत्यंत कठोर थे। एक साखी में शाक्त, ब्राह्मण, सेवरा और योगी इन चारों की संगत करने से वर्जित किया है।

साकट ब्राह्मण सेवरा, चौथा योगी जान।

इनको संग न कीजिये, होइ भक्ति में हान।।

(कबीर समग्र : अथ साकट नर को अंग)

अस्पृश्यता (छुआछूत) की धारणा भारतीय समाज में अति प्राचीन काल से चली आ रही है। “मनु (9/2 5- 9) ने लिखा कि ब्रह्महत्या करने वाले या सुरापान करने वाले लोगों को जाति से बाहर कर देना चाहिए, न तो कोई उनके साथ खाये और न स्पर्श करे। बौद्धों, पाशुपतों, जैनों, लोकायतों, सांख्यों, धर्मच्युत ब्राह्मणों, शैवों, नास्तिकों आदि को छूने पर वस्त्र के साथ पानी में स्नान कर लेना चाहिए। विशेष व्यवसायों के

पालन करने वालों, यथा देवलक (जो धन लेकर तीन वर्ष तक मूर्ति पूजा करता है), ग्राम के पुरोहित, सोमलता विक्रयकर्ता को स्पर्श करने से वस्त्र सहित स्नान करना पड़ता था। रजस्वला नारी के स्पर्श, पुत्रोत्पन्न होने के दस दिन की अवधि में स्पर्श करने पर, सूत का या शव का स्पर्श करने पर वस्त्र सहित स्नान करना पड़ता था। स्मृतियों के अनुसार गन्दा व्यवसाय करने वाले अस्पृश्य माने जाते थे, जैसे कैवर्त (मछुआ), व्याध, कसाई, बहेलिया, धोबी आदि को छूने पर स्नान करके ही भोजन किया जा सकता था।” (धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृ. 167-68)। उपर्युक्त अस्पृश्यता जातिपरक नहीं थी बल्कि स्वच्छता परक थी। प्राचीन धर्मसूत्र ने केवल चाण्डाल को ही अस्पृश्य माना है। गौतम धर्मसूत्र में लिखा है कि चाण्डाल ब्राह्मणी से शूद्र द्वारा उत्पन्न सन्तान है (पृ. 169)। इससे लगता है कि ब्राह्मणी और शूद्र का संजोग वर्ण-विधान का उल्लंघन करके हुआ होगा जिससे ब्राह्मणों में उनकी संतानों के प्रति घृणा का इजहार करने के लिए अस्पृश्य कहा गया होगा।

ऊपर के शास्त्रीय विधान के अनुसार कुछ अशुद्ध परिस्थितियों में स्पर्श न करने की बात थी। स्नान कर लेने के बाद स्पर्श करने योग्य बन जाता था। किन्तु कबीर युग आते-आते व्यवसाय वंशानुगत स्थिर हो गया था जिसका परिणाम यह हुआ कि गंदे कार्य करने वाली जातियों पर स्थायी अस्पृश्यता का कलंक चिपक गया। वर्ण एवं आश्रम व्यवस्था से द्विजों के लिए साफ व्यवसाय और कुछ शूद्रों के लिए गंदे कार्य स्थायी हो गये। इसी का नतीजा था कि सामाजिक व्यवहार में कबीर और रैदास जैसे संतों को भी नीच होने का एहसास कराया गया था। कबीर को कहना पड़ा था— ‘जाति न पूछो साधु की पूछ लीजिये ज्ञान’, या ‘तू बाभंग हम जाति जुलाहा’ आदि।

अक्सर कहा जाता है कि कबीर ब्राह्मणों के प्रति अधिक कठोर थे। किन्तु जाति, वर्ण, छूत आदि विषयों को मजबूती प्रदान करने में ब्राह्मणों का योगदान सबसे

अधिक रहा है, कबीर इस तथ्य को अनुभव कर चुके थे। इसीलिए उन्होंने कहा था—

बड़ सो पापी आहि गुमानी, पाखण्ड रूप छलेउ नर जानी
बावन रूप छलेउ बलि राजा, ब्राह्मण कीन्ह कौन को काजा
ब्राह्मण ही सब कीन्हीं चोरी, ब्राह्मण ही को लागल खोरी
ब्राह्मण कीन्हीं वेद पुराना, कैसेहु कै मोहि मानुष जाना

(बीजक, र. 14)

वह बड़ा पापी है, जो ब्राह्मण होने का बहुत गुमान करता है तथा विविध पाखंड रच करके जन-जन के साथ छल करता है। वह ब्राह्मण ही था जिसने बौने का रूप बनाकर राजा बलि से छल करके उसका राज्य हड़प लिया था। ब्राह्मणों ने किसका भला किया है? ब्राह्मणों ने ही सब चोरियां की हैं; वेदादि पढ़ने, पढ़ाने, दान लेने, पैर पुजाने आदि सारे कार्य अपने नाम करा लिये हैं। यह ज्ञान-धन की चोरी सबसे बड़ी चोरी है। अतः ब्राह्मण पर दोष लगता है। ब्राह्मणों ने वेद-पुराण, स्मृतियां, धर्मसूत्र-गृह्यसूत्र आदि शास्त्रों को इस ढंग से लिखा है कि मनुष्य उन्हीं की श्रेष्ठता माने। कबीर देव ने गंभीर आरोप ब्राह्मणों पर मढ़े हैं और यह भी कहते हैं कि ‘सत्य कबीर सत्य है वक्ता’। इसी तरह की बात सामाजिक चिंतक सच्चिदानंद सिन्हा भी लिखते हैं (जाति व्यवस्था, पृ. 214) : ‘जाति व्यवस्था एकदम ही अलग तरह की चीज है। यहां बड़ा और छोटा होने की मानसिकता ही असली फर्क लानेवाली चीज है। एक दरिद्र ब्राह्मण भी छोटी जाति के लोगों के प्रति ठीक वैसा ही व्यवहार करेगा जैसा कि अमीर ब्राह्मण। बल्कि अमीर के पास तो अपनी श्रेष्ठता बताने का दूसरा तरीका भी है इसलिए गरीब ब्राह्मण उससे भी ज्यादा घटिया किस्म का व्यवहार करेगा, खुद को बड़ा बनाने का अधिक प्रयास करेगा। गरीब ब्राह्मण को (गरीब श्वेत की तरह ही) अपनी जातीय श्रेष्ठता का एहसास अमीर ब्राह्मण से भी ज्यादा होता है और वह ऐसे किसी आंदोलन में हिस्सा नहीं लेगा जो उससे यह श्रेष्ठताबोध छीन ले। इसलिए जाति-नाश की लड़ाई के लिए की जानेवाली किसी भी कोशिश में सबसे पहले द्विज

जातियां एक जुट हो जाती हैं और उस समय उनमें अमीर-गरीब का भेद भी नहीं रहता।”

तत्कालीन सामाजिक व्यवहार में ब्राह्मण (या अन्य स्वर्ण भी) किसी अनजाने व्यक्ति के लोटा, बाल्टी या घर का पानी पीने के पहले उसकी जाति बुझने का प्रयास करते थे। जैसे नाम के साथ जातिसूचक उपाधि—पांडे, दुबे, चौबे सुनकर जाति का अनुमान लगा लिया जाता है। बिना जातिसूचक उपाधि सुनकर वे जाति जानने की तिकड़म भिड़ते हैं जैसे पिता का नाम ‘रमेश’ हुआ तो उसके आगे क्या? कुछ वर्ष पूर्व तक अक्सर ऐसे प्रश्नोत्तरी का सामना हो जाता था। संत कबीर तभी कहते हैं :

‘पांडे बुझि पियहु तुम पानी।’ (शब्द 47)

जिस मिट्टी के घर में तुम बैठे हो उसमें न जाने कितने हजार-लाख वर्षों से शव गाड़े गये होंगे। वे सड़कर मिट्टी बन गये हैं। ‘छप्पन कोटि यादव और अट्ठासी हजार मुनियों’ के आंकड़े तुम अपनी कथाओं में बांचते हो, वे अब कहां हैं? मर-खपकर वे भी इसी मिट्टी में समाये हुए हैं। पग-पग पर पैगम्बर गाड़े गये थे। वे सब सड़कर मिट्टी बन गये हैं। इसी मिट्टी के बर्तन में खाना पकाते हो, पानी रखते हो जिन्हें खा-पीकर तुम स्वयं को शुद्ध और पवित्र मानते हो। मिट्टी से धरती लिपकर पूजा करने बैठते हो। दूसरी तरफ पानी शरीर पर छिड़ककर पवित्र होते हो। नहा-धोकर पवित्र हो जाते हो तो क्या तुमने कभी गौर किया कि पानी कितना पवित्र है? नदी-जलाशयों में मेढक, मछली, कछुए, घड़ियाल आदि रहते हैं; वे जल में उत्पन्न होते हैं, मरते हैं, वहीं सड़ जाते हैं और उनके खून पानी में मिलते हैं। इतना ही नहीं, बस्ती और शहरों की नरक समान सड़ी-गली चीजें भी बहकर नदियों में आ जाती हैं। नदी किनारे मुर्दे जलाते हैं, खासकर गंगा-यमुना, गोदावरी जैसी पवित्र नदियों के किनारे तथा अवशेष को उन्हीं पवित्र नदियों में बहा देते हैं। बरसात और बाढ़ में कितने मनुष्य एवं पशु नदियों में डुबकर मर जाते हैं। साधु एवं कुछ जातियों के शव नदी में बहा

दिये जाते हैं। वे सब सड़कर उस पानी में मिलते हैं जिसमें नहाकर तुम पवित्र हो जाते हो तथा अपने भगवान को भी नहलाकर पवित्र करते हो। अपने भगवान की मूर्तियों को दूध से नहलाकर अभिषेक करते हो, दूध-दही से बना खीर-मिठाई का भगवान पर भोग चढ़ाते हो, पर जानते हो कि दूध कैसे बनता है? हड्डियों के झरनों तथा मांस की नालियों से ही दूध झर-झर कर गाय के थन में एकत्र होता है। उसी दूध को लेकर तुम जेवनार करने बैठ जाते हो। यह शब्द-47 के ऊपरी आठ पंक्तियों का भावार्थ है जिसकी आधी पंक्ति है—‘मटियाहिं छूत लगाया’। मानव शरीर को भी मिट्टी कहा जाता है और यही शरीर मिट्टी में गाड़े जाने पर मिट्टी बन जाता है। हिन्दुओं में मिट्टी और पानी के अतिरिक्त पंच गव्य पवित्र माना जाता है। पंच गव्य में—गाय का दूध, दही, घी, पेशाब और गोबर होते हैं। कितनी विचित्र बात है कि पशु का गोबर और पेशाब पवित्र पदार्थ हैं और नहा-धोकर भी कुछ मनुष्य अछूत कहे जाते हैं। इन्हीं भावनाओं से प्रेरित इस पद के माध्यम से कबीर साहेब ने छूत-अछूत की भावना को छोड़ने का तार्किक संदेश दिया।

कबीर साहेब की वाणी से प्रकट हुआ एक अन्य पद (श. 41) उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ बीजक में मिलता है। उसे भी ब्राह्मणों को समर्पित किया गया है।

पंडित देखहु मन में जानी

कहु धौं छूति कहां से उपजी, तबहिं छूति तुम मानी

नादे बिन्दे रुधिर के संगे, घट ही में घट सपचै

अष्टकंवल होय पुहुमी आया, छूति कहां ते उपजै

हे पंडित, मन में सोचकर देखो कि भला छूत कहां से उपजी है जिससे तुमने छुआछूत का विचार फैलाया है। रज-वीर्य के संयोग से बना शिशु खून के साथ मां के गर्भाशय में विकसित होता है। परिपक्व होकर शिशु मां के योनि-द्वार से जन्म पाता है, ‘छूति कहां ते उपजै’—इसमें छूत कब लग गयी?

लख चौरासी नाना बहु बासन, सो सब सरि भौ माटी

एकै पाट सकल बैठाये, छूति लेत धौं काकी

चौरासी लाख योनियां मानी गयीं हैं जिनके शवों को धरती में गाड़ा या जलाया जाता है। अंततोगत्वा सब के सब सड़कर मिट्टी बन जाते हैं। उसी धरती रूपी एक पाट (विशाल पीढ़ा) पर सबको माताएं बैठाती हैं, चलाती हैं और सब जातियों के शिशु धरती की मिट्टी में ही लोट-पोटकर बढ़ते हैं, जवान होते और वृद्ध होकर मर भी जाते हैं। तब तुम बतलाओ भला, छूत-अछूत का भेद कैसे करते हो?

विषयगत विवेचन के द्वारा समझने का प्रयास किया गया कि कबीर साहेब ने जन-चेतना जगाने, अंध-विश्वासों का खण्डन करने, शास्त्रों के द्वारा प्रचारित भ्रमों को दूर करके लोक जीवन में आत्मविश्वास विकसित करने का मार्गदर्शन किया। अतः उन्हें मुक्तिदाता कहना यथार्थ होगा? संत कबीर की निम्न पंक्तियां बहुत मार्के की हैं जिनसे हमें मार्गदर्शन मिलता है :

आगे बड़े ऐसेहि बूड़े, तिनहुं न मानल कहा हमारा
कहा हमार गांठि इढ़ बांधो, निशि बासर रहियो हुशियारा
ये कलि गुरु बड़े प्रपंची, डारि ठगौरी सब जग मारा

(बी.श. 2)

बेद-कितेब दोउ फन्द पसारा, तेहि फन्दे परु आप विचारा

कलियुगी (तत्कालीन) धर्मगुरु लोग बड़े प्रपंची हैं जिन्होंने धर्मशास्त्रों का नाम लेकर संसार में ठग-विद्या का विस्तार कर रखा है। दूसरों को फंसाते-फंसाते स्वयं भी अपने बुने हुए जाल में फंस चुके हैं। मेरी बातें गांठ बांध लो और इनसे सदैव होशियार रहो। जिन लोगों ने विवेकीजनों की बातें नहीं मानी, वैसे लोग बड़े नामधारी कहलाते हैं तथापि वे बूड़ जाते रहे हैं। क्योंकि :

झूठे की मण्डान है, धरती असमाना।
दशहुं दिशा वाकी फंद है, जीव घेरे आना।।
योग जप तप संयमा, तीरथ व्रत दाना।
नौधा बेद कितेब है, झूठे का बाना।।

(बी.श. 11)

संत कबीर जप, तप, तीर्थ, व्रत एवं विविध पूजा-पाठ के द्वारा फैलाये झूठ का भंडाफोड़ करते हैं।

‘जंत्र मंत्र सब झूठ है, मत भरमो जग कोय।
सार शब्द जानै बिना, कागा हंस न होय।

यंत्र-मंत्र सब झूठ हैं इनमें कोई मत फंसो। शब्द-जाल फैलाकर कौआ हंस नहीं हो सकता। अतः ‘भूल मिटै गुरु मिलै पारखी, पारख देहि लखाई (श.115)। संत रामरहस साहेब ने आभार व्यक्त किया है :

यह प्रकार दाया सहित, कहा वचन टकसार।

गुरु बीजक मत प्रौढ़ शुभ, नाशक नष्ट पसारा।।

(गुरुबोध 78; पंचग्रंथी)

ऊपर के जैसे वचनों से कबीर साहेब ने कृपा करके तर्कपूर्ण एवं यथार्थ बातों का एक टकसार (टकसाल जहां सिक्के ढाले जाते हैं) हमें बीजक-ग्रंथ दिया है जिसमें प्रौढ़, कल्याणप्रद एवं जाल विनाशक विचारों की खान है।

अशरण शरण दयाल प्रभु, बन्दीछोर कबीर।

मत प्रकाश शुचि विमल अति, हरण काल की पीर।।

(वही, 79)

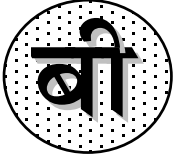
आश्रयहीन लोगों को आश्रय देने वाले दयालु, जन नायक कबीर बन्दीछोर, यानी बन्धनों से मुक्त कराने वाले हैं जिन्होंने अत्यंत निर्मल विचारों का हमें प्रकाश दिया है, जो समसामयिक पीड़ा को हर लेने वाले हैं अर्थात् दुःखों से मुक्त कराने वाले हैं। पंचग्रंथी के रचयिता रामरहस साहेब 18वीं शताब्दी में हुए जिन्होंने कबीर साहेब को ‘बन्दीछोर’ नाम से नवाजा। तत्पश्चात् 19वीं सदी में ‘निर्णयसार’ के रचयिता श्री पूरण साहेब ने कबीर साहेब को श्रद्धा-सुमन भेंट करते हुए कहा :

शरण शरण कबीर कृपाला, भक्त सहायक दीन दयाला।।

हे बन्दीछोर कृपालु कबीर साहेब, मैं आपकी शरण में आश्रय चाहता हूँ।

‘जीव उद्धारण नाम तुम्हारा। याहिते आपु सन्त तन धारा।।

जीवों का उद्धारक तुम्हारा नाम है। उद्धार करने के लिए ही आपने संत का शरीर धारण किया है। ‘काल-जाल का फंदा भारी। मेटि कियेहु निज दास सुखारी।’ संसार में ‘काल-जाल’ का भारी फंदा है जिनसे मुक्त कराकर आपने अपने दासों को सुखमय कर दिया है। अतएव सद्गुरु संत कबीर साहेब ‘बन्दीछोर’ ‘मुक्तिदाता’ हैं। □



जक चिंतन

आशा-तृष्णा-वश सब देहधारी दुखी हैं

शब्द-91

तन धरि सुखिया काहु न देखा, जो देखा सो दुखिया॥ 1
उदय अस्त की बात कहत हैं, सबका किया विवेका॥ 2
बाटे बाटे सब कोइ दुखिया, क्या गिरही बैरागी॥
शुकाचार्य दुख ही के कारण, गर्भहि माया त्यागी॥ 4
योगी जंगम ते अति दुखिया, तापस के दुख दूना॥ 5
आशा तृष्णा सब घट ब्यापी, कोइ महल नहिं सूना॥ 6
साँच कहौ तो सब जग खीजे, झूठ कहा ना जाई॥ 7
कहहिं कबीर तेई भौ दुखिया, जिन्ह यह राह चलाई॥ 8

शब्दार्थ—उदय अस्त=सारा संसार। बाटे बाटे=अपने-अपने क्षेत्र में, अपने-अपने ढंग से। शुकाचार्य=शुकदेव मुनि। जंगम=लिंगायत सम्प्रदाय के लोग, शिवाचारी। तापस=तपस्वी। खीजे=खीजना, कुढ़ना, क्रोध करना।

भावार्थ—मैंने किसी शरीरधारी को सुखी नहीं देखा, जिसे देखा वह दुखी है॥ 1॥ मैं सारे संसार की बात कहता हूँ, मैंने सबका विवेक कर लिया है॥ 2॥ क्या गृहस्थ और क्या विरक्त अपने-अपने क्षेत्र में तथा अपने-अपने ढंग से सब दुखी हैं॥ ॥ इस संसार के दुख को देखकर शुकदेव मुनि बालकपन से ही माया-मोह का त्यागकर वैराग्यवान बन गये थे॥ 4॥ योगी और शिवाचारी लोग तो अति दुखी हैं और तपस्वियों का दुख तो दूना है॥ 5॥ क्योंकि सबके हृदय में आशा-तृष्णा व्याप्त है, किसी का दिल-महल इससे खाली नहीं है॥ 6॥ यदि सत्य कहता हूँ तो सारा संसार कुढ़ता है, गुस्सा करता है, परन्तु अपने राम से तो झूठ कहते नहीं बनता॥ 7॥ कबीर साहेब कहते हैं कि मूलतः तो वे ही दुखी हुए जिन्होंने ऐसा रास्ता चलाया कि व्यक्ति का सुख, मोक्ष या परमात्मा कहीं बाहर है और उसे पाना है॥ 8॥

व्याख्या—शरीर बनता ही है असंख्य जड़कणों से मिलकर। उन जड़कणों का स्वभाव ही है परिवर्तनशील।

परिवर्तन की धारा पर बैठकर स्थिरता की चाह रखना घोर अज्ञान है। शरीर तो दूसरों की सेवा तथा स्वयं के लिए संयम करने का साधन मात्र है। हम इस असंख्य कणों के विकारी जोड़ शरीर को सत्य तथा अपना स्वरूप मान लेते हैं और चाहते हैं कि यह स्थिर रहे, तो हम दुखी होंगे ही। हमारा शरीर परिवर्तनशील है, साथियों का शरीर परिवर्तनशील है, धन के नाम पर मिले हुए सारे पदार्थ परिवर्तनशील हैं। इतना ही नहीं, हमारा तथा हमारे साथियों का मन भी परिवर्तनशील है। इतनी घोर परिवर्तनशीलता के बीच बैठकर हम उन सबकी एकरस स्थिति चाहते हैं तो हमें दुखी होना ही होगा। जहाँ सब कुछ बदल रहा हो और मिलकर छूट रहा हो वहाँ यह आशा करें कि हम जो कुछ चाहें वह होता रहे तथा सारे अनुकूल प्राणी-पदार्थ एक समान बने रहें, घोर प्रमाद है।

विवेक से सब कुछ परिवर्तनशील है ही, इतिहास उठाकर देखो तो पता लगेगा कि बड़े-बड़े कहलाने वालों के जीवन में उनका सब कुछ कितना बदलता रहा। एक चित्रकार ने श्रीराम की चित्रावली बनायी। उसे श्रीराम, सीता तथा लक्ष्मण देखने लगे। जब जनकपुर से बरात लौटकर अयोध्या पहुंचती है तो चित्र के उस अंश को देखकर श्रीराम आंसू बहाते हुए कहने लगे—“उन दिनों पिताजी जीवित थे, नववधुएं घर में आयी थीं और माताएं इस चिंता में थीं कि हमारे पुत्र कैसे सुखी होंगे; हमारे वे दिन चले गये।” श्रीराम का जन्म, घर-आंगन तथा सरयू तट पर खेलना, मृगया, ताड़कावध, धनुष-यज्ञ, विवाह, राज्याभिषेक की तैयारी का उत्साह, दूसरे ही दिन चौदह वर्ष का दारुण वनवास, घोर जंगलों में चौदह वर्ष तक भटकना, सीता-हरण, रावण से घोर युद्ध, सीता की वापसी का तिरस्कार, पुनः ग्रहण, अयोध्या में आकर राज्याभिषेक, पुरवासियों के अपवाद करने पर पुनः सीता का वननिर्वासन, सीता का पृथ्वी में प्रवेश, श्रीराम का सभी साथियों के सहित सरयू में प्रवेश—कितना भयानक

जीवत्सु तातपादेषु नूतने दारसंग्रहे।

मातृभिश्चिन्त्यमानानां ते हि नो दिवसा गताः

(उत्तर रामचरितम् नाटक, /)

दृश्य ! सर्वाधिक दुखी राम ! इसीलिए दुखभरी कहानी के अर्थ में 'राम कहानी' मुहावरा चल पड़ा। जब कोई बहुत देर तक अपना दुख रोने लगता है तब लोग कहते हैं कि क्या यार ! अपनी रामकहानी सुनाने लगे। महाराज कृष्ण का जीवन देखो, पूरा जीवन उथल-पुथल से भरा। जीवन भर युद्ध, सत्रह बार जरासंध की मथुरा पर चढ़ाई, अंततः कृष्ण का भागकर द्वारका बसाना, महाभारत का दारुण युद्ध और उससे कहीं भयंकर श्रीकृष्ण के परिवार—यादवों का घोर पतन, सबका शराबी होकर आपस में कट मरना, बलराम का समुद्र में प्रवेश तथा वन में व्याध के बाण से श्रीकृष्ण का भी प्राणांत ! इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं कि तनधारी किसी को भी सुखी नहीं देखा, सबका विवेक कर लेने के बाद मैं यह बात करता हूँ। उदय-अस्त की बात कहता हूँ, पूरे संसार की बात कहता हूँ।

“बाटे बाटे सब कोइ दुखिया, क्या गिरही बैरागी।” गृहस्थ हो चाहे वैरागी एवं त्यागी संप्रदाय हों अपने-अपने ढंग से सभी दुखी हैं। गृहस्थी झंझटों तथा उलझनों की जगह है ही, परन्तु वैराग्य-मार्ग का वेष-संप्रदाय अपने ढंग से उलझा रहता है। शुद्ध वैराग्य तो सर्वोच्चदशा है। मन में उसके आ जाने पर तो कोई दुख रहता ही नहीं है, परन्तु वैरागी-त्यागी-संन्यासी नाम से फैला हुआ संप्रदाय जहां हजारों-लाखों का झुंड हो गया है, जिनमें अधिकतम केवल त्याग-वेष की औपचारिकता में उलझे हैं, अपने-अपने मतवाद, वेष, मर्यादा, गद्दी-महंती, मूल और शाखा के मिथ्या रगड़े-झगड़े में राग-द्वेष में लिप्त हैं, इनमें कहां शांति है ! मठ-मन्दिर, चले-चाटी, मान-पूज्यता के लिए तू-तू, मैं-मैं करने वाले इन त्यागी वेषधारियों में कहां शांति है ! बस, सबके दुखों का अपना-अपना ढंग है। गृहस्थ अपने ढंग से दुखी हैं, तथा वेषधारी अपने ढंग से दुखी हैं।

“शुकाचार्य दुखही के कारण, गर्भहि माया त्यागी।” महर्षि वेदव्यास के पुत्र शुकदेव मुनि जब माता के गर्भ में आये तब वे उसी में बारह या सोलह वर्ष इसीलिए रह गये कि संसार में बड़ा दुख है, और जब पैदा हुए तो 'नारबेवार' लेकर जंगल की ओर भाग खड़े हुए और

विरक्त हो गये। वस्तुतः गर्भस्थ शिशु अचेत रहता है, उसे कहां ज्ञान होगा कि संसार में पैदा होने पर क्या दुख है और गर्भवास में ही क्या सुख रहा है जिसमें शुकदेव मुनि आनन्द-विहार करते रहे हों। इन सबका अर्थ इतना ही है कि शुकदेव मुनि बारह या सोलह वर्ष की उम्र में ही माता-पिता को छोड़कर विरक्त हो गये। श्रीमद्भागवत में यही लिखा है कि “जिनका अभी यज्ञोपवीत भी नहीं हुआ था उन शुकदेव को संन्यास लेने के उद्देश्य से जाते हुए देखकर उनके पिता कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने विरहकातर होकर उन्हें बेटा-बेटा कहकर पुकारा। शुकदेव वैराग्य में इतने तन्मय थे कि उन्होंने पिता की बात पर ध्यान भी नहीं दिया, तो वेदव्यास को मानो वृक्षों ने ही उत्तर दिया। ऐसे सबके श्रद्धास्पद शुकदेव मुनि को मैं नमस्कार करता हूँ।” यहां है “गर्भहि माया त्यागी” अर्थात् वे जन्मजात विरक्त थे। वे अपने पूर्वजन्म से वैराग्य के इतने प्रबल संस्कार ले आये थे कि बचपन से ही उनके व्यक्तित्व से वैराग्य टपकता था। वस्तुतः वैराग्य ही दुखों का अन्त कर सकता है। जो सच्चा वैराग्यवान है वही सुखी है। चाहे किसी गृहस्थ के हृदय में या चाहे किसी साधुवेषधारी के हृदय में, वैराग्य अर्थात् अनासक्ति की जितनी अधिक मात्रा होगी वह उतना दुखों से मुक्त होगा ! दुखों से पूर्ण मुक्त तो वही होता है जिसके हृदय में पूर्ण वैराग्य है।

“योगी जंगम ते अति दुखिया, तापस के दुख दूना।” योगी ऐसे कम होते हैं जो अपने मनोनिग्रह की साधना में लगें, ज्यादा लोग तो ऐसे होते हैं जो अपने बाह्य आसनों का जनता में प्रदर्शन करते, चमत्कार दिखाते, ऋद्धि-सिद्धि के प्रलोभन में भटकते तथा वेष के बल पर जनता से प्रतिष्ठा पाने के भूखे रहते हैं। जंगमों एवं शिवाचारी आदि अनेक वेष-भगवानों की इन-जैसी अपने-अपने ढंग से दशा रहती है। तपस्वीजन तो आवश्यकता से अधिक अपने शरीर को संताप देने में लगे रहते हैं, घोर उपवास, ठण्डी में जलशयन, गरमी में अग्नितापन, वर्षा में खुले

. यं प्रब्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।

पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि

(श्रीमद्भागवत //)

आकाश में निवास, केशलुंचन तथा अन्य नाना कष्ट उठाते रहते हैं। इसलिए इनका दुख दूना समझिए।

खास बात है “आशा तृष्णा सब घट व्यापी, कोई महल नहीं सूना।” जो सबके हृदय में पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकेषणा का राज्य है, सबके मन में किसी-न-किसी प्रकार संसार की आशा-तृष्णा लगी है, यही दुखदायी है। इन्द्रियों के भोग, प्राणी-पदार्थ, मान-प्रतिष्ठा, पूज्यता-सत्कार आदि पाने की आशा-तृष्णा तो दुखदायी हैं ही, परन्तु यदि संसार में अधिक-से-अधिक धर्म, सत्यज्ञान तथा सदाचार की बातें प्रचार कर देने की आशा-तृष्णा है तो यह भी एक पागलपन एवं दुखद ही है। विवेकवान सबका हित चाहता है। और शक्ति के अनुसार जनकल्याण का प्रयास करता है, परन्तु वह उसके लिए मन से व्याकुल तथा बेचैन नहीं रहता। वह धर्मप्रचार की आशा-तृष्णा नहीं करता। कोई भी काम किया जाये या वस्तुओं का उपयोग किया जाये, यदि सावधानी न बरती जाये तो उसमें तृष्णा अपना घर बनाती है। अनुकूल खान-पान, वस्तुओं तथा स्थानों के उपयोग में तृष्णा; मान-प्रतिष्ठा एवं पूज्यता में तृष्णा; शिष्य-शाखा, मठ-मन्दिर एवं धन-द्रव्य में तृष्णा; प्रचार-प्रसार में तृष्णा; जन-समूह, भाषण तथा लेखन में तृष्णा। इसी प्रकार दृश्य मात्र में तृष्णा पैदा होती है। यदि हम सावधानी न बरतें तो हर जगह तृष्णा अपना घर बनाती है। अच्छा काम करना ठीक है, परन्तु उसकी भी तृष्णा ठीक नहीं है। सद्गुरु कहते हैं कि यह आशा-तृष्णा सब घट में व्याप्त है। किसी का हृदय-घर इससे बचा नहीं है। इस कथन पर जोर देने का मतलब है कि इससे कोई बिरला बचा होगा। मनुष्य को चाहिए कि वह पहले गलत कामों को छोड़े, संसार के राग-रंग एवं भोगों को छोड़े और अपने लिए मान-प्रतिष्ठा की भावना का परित्याग करे। वह शुभ काम करने में, जन-कल्याण करने में पहले तृष्णा रखे यह ठीक है, परन्तु आगे चलकर सारी तृष्णाओं का अन्त होना चाहिए। यदि मनुष्य चाहता है कि हमारे सारे दुख दूर हो जायें तो वह अपने मन से शुभाशुभ सारी बातों में लगने वाली आशा-तृष्णा का त्याग करे।

सद्गुरु कहते हैं कि मैं सच्ची बात कहता हूँ तो सारा संसार गुस्सा करता है, परन्तु झूठ तो अपने से कहा नहीं

जा सकता। गृहस्थ दुखी हैं, वेषधारी दुखी हैं, वे सब क्यों दुखी हैं? क्योंकि वे बाहर से कुछ पाने की आशा-तृष्णा में पड़े हैं। यह सत्य है। इसे सुनकर नाराज होने की कोई बात ही नहीं होनी चाहिए। “कहहिं कबीर तेई भौ दुखिया, जिन्ह यह राह चलाई।” कबीर साहेब कहते हैं कि वही दुखिया हुआ, जिसने यह रास्ता चलाया, जिसने यह रीति निकाली कि बाहर से कुछ मिलकर तृप्ति होगी। भोग-विषय तो जड़ हैं ही, वे बाहरी चीजें हैं ही, परन्तु यदि मोक्ष, परमात्मा, ब्रह्म तथा राम-रहीम भी बाहर से मिलते हैं तो यह दुखदायी रास्ता है। बाहर से तो जो कुछ मिलता है वह भौतिक है, परिवर्तनशील है। वह मिलकर छूट जायेगा। यदि मोक्ष एवं परमात्मा जीव को बाहर से मिलते हैं, तो वे मोक्ष तथा परमात्मा के नाम पर भौतिक वस्तु ही हैं। वस्तुतः मोक्ष एवं परमात्मा आत्मा की कृतार्थ अवस्था का नाम है। वे आत्मा एवं जीव से कोई अलग वस्तु नहीं हैं, परन्तु यह बात सुनकर संसार के लोग खीजते हैं। वे विचार नहीं करते, किन्तु सुनी-सुनायी बातों की भावना में बहते हैं। उन्हें यह पता नहीं है कि भावना से सत्य रूपर होता है।

संसार के प्राणी-पदार्थों को पाने की आशा-तृष्णा तो हमारी छूटनी ही चाहिए; जीने, करने, भोगने, देखने, सुनने आदि की भी आशा-तृष्णा छूटनी चाहिए। यहां तक कि बाहर से मोक्ष, परमात्मा तथा ब्रह्म पाने की आशा-तृष्णा भी छूट जानी चाहिए। जब सारी आशा-तृष्णाओं का सर्वथा अन्त हो जाता है, तब मन में कोई दुख नहीं रह जाता। यदि मन इस प्रकार दुखरहित हो जाये तो कभी-कभार शरीर में आये हुए रोगजनित दुख जीव को क्षुब्ध नहीं कर सकते। वस्तुतः मन का दुख ही बड़ा दुख है, जिसकी जननी है आशा-तृष्णा। जिनकी सारी आशा-तृष्णाएं छूट गयीं वह परम सुखी हो गया। □

तू तो राम सुमिर, जग लड़ने दे।

कोरा कागज काली स्याही, लिखत पढ़त वही पढ़ने दे।
हाथी चलत अपनी गति से, कुकुर भूँके तो भूँकने दें।
चण्डी भैरव सितला देवी, देव पूजे तो पुजने दे।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, नरक परै वहि पड़ने दे।

सुख की तलाश में, गम के पास में

लेखक—सौम्येन्द्र दास

सर्व परवशं दुःखं, सर्व आत्मवशं सुखं। (मनुस्मृति)

परवशता सब प्रकार का दुःख है और आत्मस्ववशता ही सभी प्रकार का सुख है, बस इतनी ही सुख-दुःख की परिभाषा है। जीव के स्वरूप में दुःख नहीं है, इसलिए हर आदमी (जीव) की मांग सुख है। हर आदमी अपने स्वभाव को चाहता है। स्थिति न होने की वजह से अपनत्व का उद्घाटन दूसरे में करना चाहता है इसीलिए प्राणी-पदार्थों में कहीं राग करता है तो कहीं द्वेष।

आदमी के प्राणी-पदार्थों को पकड़ने और छोड़ने में अपने आप की तलाश है। वह चीज चाहता है जो कभी छूटे न। उसकी सुख-शांति बरकरार रहे। जहां जाता है वहां सुख दृढ़ता है, अपने भीतर नहीं तलाशता है। मनोनुकूल प्राणी-पदार्थ मिल जाते हैं तो कहता है मैं धन्य हो गया, आपसे मिलकर बड़ी खुशी हुई। यह व्यवहारतः ठीक है। मगर, होता क्या है—“जहां-जहां गयऊ अपन पौ खोयऊ, तेहि फंदे बहु फंद” (बीजक)। मिले हुए प्राणी-पदार्थों के मोह में फंस जाता है।

बाहर से सुख तलाशते-तलाशते जीवन बीत जाता है, मगर मिलता नहीं। उसके लिए तमाम प्रकार के पाप-पुण्य, सही-गलत, नाना प्रकार के कर्मकाण्ड अपनाता है, फिर भी सुख तो कहने मात्र का रह जाता है।

झूठे सुख को सुख कहे, मानत है मन मोद।

जगत चबैना काल का, कुछ मुट्टी कुछ गोद

(कबीर साखी)

मनोनुकूल प्राणी-पदार्थों के मिलने पर भी सुख नहीं मिलता, केवल गम ही हाथ लगता है। इसीलिए तो आदमी समय के साथ थका-हारा हुआ नजर आता है दुनिया से, और यही कहता है कि दुनिया सपना है,

प्राणी-पदार्थ तो एक धोखा है। क्योंकि आदमी की धारणा है ग्रहण से सुख और बिछुड़न (त्याग) से दुःख मिलता है। जब जोश रहता है तब होश नहीं रहता। जवानी है, धन है, चाहने वाले हैं तब उसकी चाल-ढाल को देखिये। मन क्या-क्या करना नहीं चाहता है। वह घटना याद आती है—एक आधुनिक लड़की थी, जो सुन्दर एवं जवान थी। उसके चाहने वाले दो लड़के थे जो उससे शादी करना चाहते थे। शादी तो एक से ही हो सकती थी। लड़की ने कहा—जो ज्यादा दौलत देगा उसी से शादी करूंगी। इसके लिए एक पार्टी रखी गयी जिसमें दोनों लड़कों के बीच बोली लगनी थी। लड़की एक संत को मानती थी, उसे पूजती थी। उसने उन्हें भी बताया कि मेरी शादी होने जा रही है, इसके लिए एक पार्टी है जिसमें दो लड़कों के बीच मेरे लिए बोली लगेगी, जो अधिक धन लगायेगा उसी से शादी करूंगी। संत ने समझाया—बेटी, तुम्हें दौलत से शादी करनी है कि दिलदार से। लड़की बोली—बाबा, दौलत है तो सब कुछ है। संत ने कहा—अपने को मत धोखा दो। जिसे तुम्हारी अंतरात्मा स्वीकारती है, जिसके साथ तुम्हारा भविष्य सुखद नजर आता है उससे शादी कर लो। लड़की कहती है—केवल प्यार सब कुछ नहीं होता, दौलत चाहिए। दौलत हो तो सब कुछ मिल जाता है। संत ने कहा—सुख-शांति नहीं ला पाओगी।

पैसे से भोजन लाओगे, भूख कहां से लाओगे।

पैसे से बिस्तर लाओगे, नींद कहां से लाओगे।

पैसे से सुविधा लाओगे, सुख-शांति कहां से लाओगे।

लड़की कहती है—मैं सुंदर हूं, जवान हूं, मेरे चाहने वाले लोग हैं, मेरे पास सुख की क्या कमी है। इतनी बात सुनकर संत ने जो कहा वह बड़ी मार्मिक है। संत ने कहा—कितनी तुच्छ चीजों को सुख का नाम दे दिया—रूप, जवानी, धन, चाहने वाले, ब्याहने वाले

इन्हें सुख का नाम देते हो, अरे ये तो पापी के घर में भी होते हैं—

मात-पिता सुत बांधवा, ये तो घर-घर होय।

संत समागम हरि कथा, तुलसी दुर्लभ दोय।।

समुझाये समुझे नहीं, पर हाथ आपु बिकाय।

मैं खँचत हँ आपको, चला सो जमपुर जाय।।

(कबीर, बीजक)

संत ने बहुत भांति से समझाया, लेकिन वह एक न मानी। उसने पार्टी की। दोनों लड़कों के बीच बोली लगी और जिसने ज्यादा धन दिया उससे शादी की लेकिन पहले ही रात उसका पति द्वेषवश उसे गला घोट कर मार डाला। मुझे वो पंक्ति याद आती है—

जिसको चुना था जीवन साथी, आज वो निकला है कातिल।

जुल्म सितम पाप की, ये है आखरी मंजिल।।

जिसे हार समझा था गला अपना सजाने को।

वही अब सांप बन बैठा हमें ही काट खाने को।।

आदमी नंगे बदन, मुट्टी बांधे आता है और कामनाओं के वशीभूत होकर कितने सपने सजाते चला जाता है। कहां पूर्ण विराम लगाना है, खुद को पता नहीं होता। जब तक जीता है प्रमाद में जीता है। प्रमाद क्या है—यथार्थ काम को न कर निरर्थक कार्य को करना।

सिकन्दर को कितना प्रमाद था, विश्वविजेता बनूंगा। पूछा गया—किसलिए? उत्तर मिला—सुख-शांति के लिए। कुछ देशों को जीत भी लिया, लूटपाट खूब किया। भाला लगा, बड़े-बड़े डॉक्टर, वैद्य को लाया गया मगर कोई बचा न पाया। बहुत हल्की उम्र में दुनिया से चल बसा। सिकन्दर ने मरने से पहले कहा था—

1. जब मेरी अर्थी निकले तो सारी दौलत रास्ते में बिछा देना, ताकि दुनिया जाने कि दौलत किसी के साथ नहीं जाती, यहीं पड़ी-की-पड़ी रह जाती है।

2. जब मेरी अर्थी निकले तो मेरे दोनों हाथों को बाहर निकाल देना, ताकि दुनिया देख सके कि बाहर की चीजों को जितना पकड़ो अंत में हाथ खाली-के-खाली रह जाते हैं।

. मेरी अर्थी को बड़े-बड़े डॉक्टर, वैद्य भी कंधा दे, ताकि दुनिया देख सके कि बड़े-बड़े डॉक्टर-वैद्य भी मृत्यु के आगे असहाय हैं। वे भी बचा नहीं पाये।

सुख की तलाश में मौत के कितने पास आ गये, हम थे ऐसे सफर पे चले जिसकी कोई भी मंजिल नहीं। हमने सारी उमर जो किया, उसका कोई भी हासिल नहीं, इक खुशी की तलाश में थे, कितने गम हमको तड़फा गये।।

हितलर, मुसोलिनी, चंगेजखां, नादिरशाह और बड़े-बड़े आततायी जिन्होंने प्रमाद में जीवन खो दिया सबकी यही कहानी है।

संसार ही में आसक्त रहकर,

दिन रात अपने ही मतलब की कहकर।

सुख के लिए लाखों दुख सहकर,

ये दिन अभी तक यों ही बीताये।(पथिक जी)

भगवान बुद्ध ने प्रमाद को मृत्यु कहा है। आदमी अमृत का पान नहीं कर पाता, विष पीता चला जाता है।

जीवन जहरीला हो जाता है, विवेक मारा जाता है। जहर को ही जीवन मान लेता है। एक शराबी शराब में जीवन खोजता है जो हकीकत में उसके लिए मौत है। क्रोधी के लिए क्रोध जीवन नहीं, मौत है। अहंकारी के लिए अहंकार मौत है; परंतु प्रमाद समझ में कहां आता है। उदाहरण तो बड़े लोगों का दिया जाता है। रावण गलत करके भी कहता है कि मैं टूट सकता हूँ, झुक नहीं सकता, क्योंकि अहंकार ही उसका जीवन हो गया है। दुर्योधन को कहा गया कि पांडवों को पांच गांव दे दो उसी में जी-खा लेंगे, लेकिन नहीं माने, कहा—पांच गांव क्या, सुई की नोंक के बराबर जमीन नहीं दूंगा। रही बात धर्म की, तो मैं धर्म को अच्छी तरह जानता हूँ पर उसका आचरण नहीं कर पाता हूँ। मैं अधर्म को भी जानता हूँ पर उसका त्याग नहीं कर पाता हूँ। अंततः टुटना पड़ा, मिटना पड़ा। हम लोगों की क्या गति होगी खुद सोचें। निश्चित है अंतरात्मा से सही जवाब मिलेगा। वरना यहां बड़े-बड़े लोग धोखा खा गये—

राम तेरी माया दुन्द मचावै।

गति मति वाकी समुझि परे नहीं, सुर नर मुनि ही नचावै।

(बीजक, शब्द-1)

सबको प्रमाद है हम तो अच्छा कर रहे हैं। घूस लेने वाला भी सोचता है इतना तो करना पड़ता है। चोर भी यही सोचता होगा, थोड़ा चुरा लेने में क्या रखा है। सबको प्रमाद है कि हम तो सुख का रास्ता निकाल रहे हैं। अब तो मोबाइल, कम्प्यूटर, विज्ञापन, जनसंपर्क का जमाना है। (सभी मतपंथ के) संत समाज भी इससे काफी प्रभावित है। साधु कम मीडिया वाले ज्यादा लगने लगे हैं। धर्म के नाम पर अपना-अपना प्रचार-प्रसार जनसंपर्क, इससे धन मिलेगा। पेशेवर प्रवक्ता अपने साधुओं को इसी तरफ लगा देते हैं—अब लगे रहो साधु भाई।

साधक बड़े निर्मल मन से आता है, समर्पणपूर्वक रहता है, कुछ ही दिनों में बहुत विकास करता है, ज्ञानी हो जाता है। सावधान न रहने पर, जानकारी का अहंकार होने लगता है, फिर सत्संग, ध्यान, समाधि फीके होने लगते हैं। साधना नाम मात्र की रह जाती है। अन्य बाहरी चीजों में अपने को व्यस्त कर लेता है। अंदर की मलिनता जाती नहीं बल्कि और सघन हो जाती है—

सुख साँचा लखि मनन जो पुनि-पुनि वस्तुन देखि।

सो अज्ञान अपार है रचि-रचि दुख को लेखि।।

(सद्गुरु विशाल साहेब)

दुख हम खुद खरीदते हैं। जिन चीजों को देखने, सुनने, भोगने से दुख मिलता है फिर उन्हीं चीजों की याद करते हैं, पाना चाहते हैं। यह कैसा अज्ञान है।

बड़े-बड़े राजे-महाराजे, रानी-महारानी सुख की तलाश में जीवन को खपा देते हैं। सुख की आशा लगी रहती है, मिलता नहीं। राजा दशरथ की तीन रानियों में कौशिल्या सबसे बड़ी थी लेकिन जो सुख (प्रतिष्ठा) चाहिए वह मिला नहीं। श्री राम के वन-गमन के समय कहती हैं—राम, मैं सोचती थी कि जब तुम राजा

बनोगे, तब मैं राजमाता कहलाऊंगी, तब शायद सुख मिले, लेकिन तुम्हारा ही वनवास हो गया, मेरी आशा पूरी नहीं हुई। कैकयी चाहती थी कि मैं राजमाता बनूँ, वे भी नहीं बन पायीं। कबीर साहेब कहते हैं—संसार के लोग सुख के वृक्ष लगाना चाहते हैं। उसकी जड़ मानते हैं—राज-पाट, धन-दौलत, पद-प्रतिष्ठा, स्त्री-पुरुष। परंतु यही तो माया है। यही तो हमें छलती है। इसके चाहने से आशा-तृष्णा, भय-चिन्ता और बढ़ जाते हैं फिर जीवन में छल, कपट, हिंसा, हत्या और भी दुराचार बढ़ते हैं। इसमें सुख कहाँ? “सुख के वृक्ष एक जगत्र उपाया। समुझि न परलि विषय कछु माया।।”

कोई भी मद सरलता से छोड़ा नहीं जाता। यह बंधन इतनी सुविधा से तोड़ा जाता, तो प्रत्येक व्यक्ति तोड़ देता। जबतक हम अपने बंधनों को नहीं पहचानेंगे, उन्हें अपने दुखों का कारण नहीं मानेंगे, उन्हें तोड़ने का संकल्प नहीं करेंगे, तब तक अनिष्टता का भय और शत्रुता का भाव नहीं जायेगा, और सुख-शांति कोसों दूर रहेगी।

चीजें सुख-दुख का कारण नहीं बनतीं। मन की पकड़ सुख-दुख का कारण है। आसक्ति-चाहना ही दुख है—“आशा ही परमं दुखं, नैराश्यं परमं सुखम्।”

सुख के लिए कबीर साहेब की घोषणा है—

जो तू चाहे मूझको, छाँड़ सकल की आस।

मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास।।

जब लग दिल पर दिल नहीं तब लग सब सुख नाहि

दुनिया अजब दिवानी, मोरी कही एक न मानी।
तजि प्रत्यक्ष सद्गुरु परमेश्वर, इत उत फिरत भुलानी।।
तीरथ मूरत पूजत डोलै, कंकड़ पत्थर पानी।
विषय वासना के फन्दे परि, मोह जाल उरझानी।।
सुख को दुख दुख को सुख मानै, हित अनहित नहिं जानी।
औरन को मूरख ठहरावत, आपै बनत सयानी।।
साँच कहीं तो मारन धावै, झूठे को पतियानी।
कहैं कबीर कहाँ लागि बरनौं, अद्भुत खेल बखानी।।

परमार्थ पथ

सद्गुरु ज्ञान ठिकाना है

मेरे चारों तरफ शून्य है। आज-कल में शरीर छूट जायेगा, तब मैं सदा के लिए अकेला, अद्वैत, असंग, शेष, बक्रा, निराधार एवं केवल रहूंगा। मुझे संसार की प्रतीति न होने से वह हमारे लिए शून्य रहेगा। अतएव आज ही उस भाव-दशा में जीना चाहिए। देह रहते-रहते निर्विकल्प में जीने से ही विदेह-मोक्ष होगा। अहो, मेरा इस संसार में कुछ नहीं है। वैसे भी जो संसार में मालटाल लगता है, वह जड़ तत्त्वों के कर्णों का विकार है, निर्मित कार्य-पदार्थ है। वह क्षण-क्षण बनता-मिटता है और अंततः बिखरकर तत्त्वों में मिल जाता है। निर्मित पदार्थों में ही अहंता-ममता है और वह अंततः खो जाता है। सारे दृश्यों का अभाव हरक्षण देखो।

यह मिट्टी का लौंदा-शरीर पृथ्वी पर लुढ़क रहा है। लुढ़कते-लुढ़कते एक दिन किसी जगह बिखर जायेगा। स्वसत्ता तो निर्मल, निरीह, निराधार असंग चेतन है जो आत्माराम है। शरीर से लेकर सारे संसार का राग त्यागकर अपने आत्मा में ही लीन रहना साधक की समझदारी है। उसका यहां क्या रखा है! वह तो जगत-गंध से सर्वथा रहित निर्मल तत्त्व है। उसी भाव में निरंतर लीनता परमानंद की दशा है।

भोजन सदैव संतुलित, सात्त्विक, सुपाच्य तथा कड़ी भूख लगने पर करो। बहुत मनुष्यों से संबंध बनाकर रहने की प्रवृत्ति न रखो। जितना अधिक संबंध उतना अधिक राग-द्वेष। सब समय अंत की दशा को देखो। जीवन क्षणिक है। कुछ पदार्थ या कोई प्राणी तुम्हारे साथ नहीं है। जब शरीर ही क्षण-क्षण बदल रहा है और एक दिन सदैव के लिए लुप्त हो जाने वाला है तब किस वस्तु से अपने को जोड़ा जाये। वस्तुतः सारे संबंध को

तोड़ देना मोक्ष है। मैं अकेला हूं। मेरा कोई नहीं है। फिर किस बात को लेकर संताप।

लौकिक धन की कमाई करना आवश्यक है; क्योंकि उससे ही शरीर का निर्वाह होगा। परंतु क्या शरीर को खिलाना-जिलाना मात्र जीवन का उद्देश्य है? शरीर को खिलाना-जिलाना तो इसलिए है कि इससे मोक्ष-प्राप्ति का काम करना है। यदि मोक्ष-प्राप्ति का काम न हो, तो सब कुछ व्यर्थ है। मोक्ष है सब समय निर्मल मन का रहना। निर्मल मन ही दुःखहीन तथा स्थिर प्रसन्न रहता है। इस दुनिया के झमेले में पड़ा हुआ अविवेकी आदमी इस तथ्य को नहीं समझता है और वह जीवन भर माटी-गोबर की ही कमाई करता है जो उसका बाल खेल है।

प्रारब्ध की यात्रा के साथ धर्म की यात्रा चल रही है। लोगों को मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक संतोष मिलता है और हमारा कालक्षेप होता है। मैं तो शुद्ध चेतन हूं। मेरे में न देह है, न प्राण है, न मन है, न बुद्धि है, न जगत का भान है और इसलिए न जगत-प्रपंच है। मैं तो शुद्ध-बुद्ध, निर्मल, असंग, अकेला, केवल, अद्वय हूं। मेरे में दूसरे की उपस्थिति नहीं है। फिर मुझे क्या मोह और क्या शोक? यह मल-मांस का पिंड शरीर आजकल में सदा के लिए लुप्त हो जायेगा। इसके द्वारा मेरे कैवल्य का काम हो जायेगा बस इसका काम समाप्त है।

यह सारा संसार समुद्र है। इसमें निरंतर परिवर्तन है। सबसे अधिक परिवर्तनशील हमारा शरीर है और अचानक क्षण ही में नष्ट हो जाने वाला है। संसार को जान-जान कर संताप है। उसे न जाने तो कोई संताप नहीं है। उसे जानना क्षणिक है, न जानना स्थिर है। आज-कल में जब शरीर छूट जायेगा तब सदा के लिए संसार ओझल हो जायेगा, इसलिए आज ही से प्रतीतमान का मोह छोड़कर अपने आप में निमग्न हो जाना चाहिए।

जीवन्मुक्ति-रहनी में रहने के दिन आज हैं, वर्तमान है। उसके लिए आज कोई विघ्न नहीं दिखता है। विघ्न केवल मन का अज्ञान, मोह, अहंकार और अविवेक है। अपने मन का भ्रम मिट जाने पर विघ्न कहीं है ही नहीं। दूसरे लोग हमारी जीवन्मुक्ति में विघ्न हो ही नहीं सकते। आसक्ति भ्रम है। मोह भ्रम है। अहंकार भ्रम है। मनुष्य सब समय भ्रम में जीता है। सेवा से चित्त शुद्ध होता है। स्वाध्याय, चिंतन तथा ध्यान से मन सरल, ज्ञानपूर्ण और अंतर्मुख होने की दिशा में उन्मुख होता है और निर्विकल्प समाधि से पूर्ण स्वरूप साक्षात्कार होता है। फिर इस स्थिति को बनाये रखने के लिए निरंतर ये सारे अभ्यास चालू रखना चाहिए। जीवन्मुक्ति-सुख आज लें।

* * *

प्रगाढ़ शांति असली सुख है। यही जीवन की परम उपलब्धि है। सबके द्वारा मिले हुए कटु-मीठे व्यवहार, अपमान-सम्मान, सत्कार-तिरस्कार निर्विकार भाव से सह लो। किसी के प्रति वैर, द्वेष और मोह, राग न करो। किसी से कुछ न चाहो। सदैव अपने मन को शोधो। जीवन में एक ही काम है मन को शोधकर उसे आत्मलीन रखना। सब समय मन शांत है तो क्या समस्या है? उपलब्धि भीड़ क्षणिक है। किसी का कुछ नहीं रहेगा। किसमें मोह बनाया जाये? जो मेरे साथ नित्य रहे उसी में मोह करना उचित है और वह है आत्म-अस्तित्व। अतएव हमें निरंतर आत्मलीन रहने का काम करना चाहिए। सब समय आत्मसंतुष्ट। कोई क्या कहता और करता है, इससे मुझे कुछ प्रयोजन नहीं। निरंतर आत्मलीन।

* * *

आना-जाना माया का कार्य है—“संतो, आवै जाय सो माया।” यह सद्गुरु कबीर के बीजक का आठवां प्रसिद्ध शब्द है। आत्म-अस्तित्व जिसे पर-आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म, परमतत्त्व जैसे अनेक शब्दों से कह सकते हैं, वह न आता है न जाता है—“ना कहूँ गया न आया।” स्वतः अस्तित्व स्वतः से कभी अलग हो ही

नहीं सकता कि वह स्वयं को छोड़कर कहीं आवे-जाये। स्वतः स्थिति परमपद की प्राप्ति है।

* * *

मन को निर्मल, एकाग्र तथा निर्विकल्प करने के लिए सेवा, स्वाध्याय, चिंतन और ध्यान में जोर से लगना चाहिए। बिना जोर से लगे, पूरी सफलता नहीं हो सकती। शरीर शीघ्र जाने वाला है। अतएव तुरंत अपना कल्याण कर लो।

* * *

जो मनुष्य कड़ी भूख लगने पर सुपाच्य, सात्त्विक, शुद्ध और संतुलित भोजन करता है और सदैव अपने मन को देखता है, उसमें अहंकार, कामना, राग-द्वेषादि विकार नहीं आने देता है और अपने आप को देह से सर्वथा परे शुद्ध चेतन समझता है और शरीर से लेकर सारे जड़दृश्य पसारा को पानी के बुलबुलेवत क्षणिक समझकर सबसे निस्पृह रहता है और मन-इंद्रियों से प्रतीतमान सारे प्रपंच को स्वप्नवत समझकर उसके हर्ष-अमर्ष से सर्वथा परे रहता है और अपने अनंत विदेह मोक्ष को निरंतर देखता है वह निर्भय तथा अत्यंत सुखी रहकर अनंत शांति-सागर में निरंतर निमज्जन करता है।

* * *

भ्रम में मत जीयो। शरीर को मैं या मेरा मानना भ्रम है। स्वयं को अन्य का तारक या मालिक मानना भ्रम है। शरीर से भोग-पदार्थों का आनंद लोगे, भ्रम है। बाहर से तुम्हें आनंद मिलेगा, भ्रम है। वस्तुतः पूरा जीवन ही भ्रम है। इसका मोह छोड़ देना भ्रम से जग जाना है। देखते-देखते एक दिन हृदयगति रुक जायेगी और शरीर लाश होकर पड़ा रहेगा। फिर इसकी गति मिट्टी में मिल जाना है। सब तरफ से निर्मोह होकर जीना जीवन्मुक्ति है। हम संसार को देखते हैं और उसमें व्यवहार करते हैं, अहंता-ममता करते हैं और दुनिया की बातों को लेकर सुखी-दुखी होते हैं; किंतु अंत में देह के साथ सब कुछ विस्मृति के गर्त में सदा के लिए डूब जाना है। □

ध्यान और मन की निर्मलता

चंचल मन को एकाग्र कैसे करें? यह प्रश्न सार्थक है लेकिन यह कहना कि मन एकाग्र नहीं होता, सही नहीं है। मन तो सबका एकाग्र होता है। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसका मन एकाग्र न होता हो। अब यह बात अलग है कि मन कहां एकाग्र होता है? जरा खयाल करें, कोई आपका मित्र है जो अत्यन्त प्यारा है। बहुत दिनों के बाद उससे आपकी मुलाकात हुई है और आप दोनों मित्र बैठकर बातें कर रहे हैं, सोचें उस समय आपका मन एकाग्र रहता है या नहीं। प्यारे मित्र से बात करते समय, मुलाकात के समय आपका मन कितना एकाग्र रहता है। आप टी.वी. देखने के लिए बैठे हैं मन पसंद धारावाहिक आ रहा है, फिल्म आ रही है, सोचें कि उस समय आपका मन एकाग्र रहता है या नहीं रहता है। किसी प्रिय की याद में आप डूबे हुए हैं, सोचें उस समय आपका मन एकाग्र रहता है या नहीं रहता है। चोर चोरी की योजना बनाते हैं उस समय उनका मन कितना एकाग्र रहता है। शिकारी किसी शिकार की प्रतीक्षा में बैठा रहता है उस समय उसका मन कितना एकाग्र रहता है।

मन तो एकाग्र होता है। कहां एकाग्र होता है यह अलग बात है। मन की एकाग्रता कोई बड़ी बात नहीं है, बड़ी बात है कि उसे कहां एकाग्र करना है? मन की एकाग्रता से ज्यादा आवश्यक है, मन की पवित्रता-निर्मलता, मन का निर्विकार होना। मन एकाग्र हो गया लेकिन उस एकाग्रता का परिणाम मन का विकारी होना हो गया, मन का चंचल होना हो गया तो बेकार है। मन निर्मल और निर्विकार है तो यह जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि होगी और मन निर्मल-निर्विकार नहीं हुआ तो फिर जीवन की हार होगी। कितना भी एकाग्र करें मन को उससे कोई खास फायदा नहीं होगा।

मन जब निर्मल होगा तब वह वहां एकाग्र होगा जहां उसे होना चाहिए। ध्यान-साधना में बैठते हैं और आप जानते हैं कि आपका मन भाग रहा है। मन के

भागने का अर्थ है कि किसी विचार में मन का डूब जाना या अनेक प्रकार के विचार आते रहना। ऐसा नहीं है कि मन भागता है तो शरीर से निकलकर कहीं चला जाता है। किसी बात को सोचना, बात एक हो सकती है और अनेक भी हो सकती हैं। जो सामने उद्देश्य है, लक्ष्य है उसमें स्थिर न होकर इधर-उधर की बातों को सोचना यही मन का भागना है। यदि आपका मन भाग रहा है तो आप देखें कि कहां भाग रहा है? क्या सोच रहा है? जब भी आपका मन कुछ सोचेगा तो या तो शरीर की बात सोचेगा या संसार की बात सोचेगा।

शरीर और संसार दोनों सामने हैं और इन्हीं की यादों में प्रायः मन डूबा रहता है, इसी को हम मन का भागना, मन का चंचल होना कहते हैं। क्यों ऐसा होता है? क्योंकि जब से हमने होश सम्हाला है, हम जानने-समझने लायक हुए हैं तब से लेकर इन्हीं बातों की शिक्षा हमें मिली है। और इनके पीछे हम निरन्तर दौड़ते रहे हैं। हमारी सारी दौड़ शरीर केन्द्रित रही है। शरीर केन्द्रित दौड़ का परिणाम क्या होगा? बहिर्मुखता, चंचलता। जो कुछ अभ्यास किया गया है वही अभ्यास सामने आयेगा।

शरीर-संसार से हटकर भी कुछ और है उसके बारे में न हमने सोचा और न उसका ज्ञान जहां से मिल सकता है वैसी संगति में जाकर बैठा। उससे दूर-दूर रहे तो परिणाम क्या होगा? बहिर्मुखता तो होगी ही।

शरीर और संसार इन दोनों से हटकर सद्विचार में, सद्गुणों के चिंतन में, आत्मज्ञान में, विवेक-विचार में क्या कभी आपने मन को लगाया? कभी मन को इस दिशा में मोड़ने का प्रयास किया? इन बातों को तो निरर्थक समझते रहे। समझते रहे कि ये सारे काम तो साधु-सन्तों, महात्माओं और त्यागी-वैरागियों का है। यह हमारा काम नहीं है। त्याग-वैराग्य, सद्गुण-सदाचार, विवेक-विचार ये साधु और गृहस्थ की बात नहीं हैं। ये बातें उन सबके लिए हैं जो जीवन में सुख

चाहते हैं। वह सुख जिसका परिणाम दुख न हो, वह सुख जिसका परिणाम बंधन न हो, मन का विकारी होना न हो। दुनिया का कोई भी सुख ऐसा नहीं है जिसके परिणाम में दुख न हो, आसक्ति और तृष्णा न उत्पन्न हो।

विवेक-विचार, संयम-साधना यह उन सबके लिए आवश्यक है जो जीवन में सच्चा सुख चाहते हैं, सच्ची शान्ति चाहते हैं, लेकिन दुर्भाग्य से यहां साधु और गृहस्थ का फर्क कर दिया जाता है। गृहस्थ और विरक्त से मतलब नहीं है, किन्तु मतलब है जीवन से, अपने आप से।

खास बात है मन की पवित्रता, मन का निर्विकार होना। मन पवित्र-निर्विकार हो गया तो जीवन की समस्याओं का समाधान हो गया। फिर यह समस्या नहीं आयेगी कि क्या करें मन बहुत भागता है, चंचल है, रुकता नहीं है। अपने आप मन रुकेगा। यह नहीं कहा जा रहा है कि मन की एकाग्रता आवश्यक नहीं है। मन की एकाग्रता आवश्यक है। बिना एकाग्र मन के हम किसी भी काम को व्यवस्थित ढंग से नहीं कर सकते। हम कुछ भी काम करते हों उसमें अपने मन को एकाग्र एवं तल्लीन करें, उसी में डूबा दें तो ध्यान लग जायेगा।

कोई भी काम कर रहे हों, भोजन बना रहे हों, झाड़ू लगा रहे हों, बरतन मांज रहे हों, खेत जोत रहे हों, दुकान में बैठे हों, आफिस का काम कर रहे हों और मन खूब चंचल है तो आपका एक भी काम सही नहीं हो पायेगा। किसी भी काम में निपुणता हासिल करने के लिए मन की एकाग्रता आवश्यक है।

मन एकाग्र तो सबका होता है। जहां नहीं होना चाहिए वहां होता है, जहां होना चाहिए आत्मविचार में, ज्ञान की बातों में, सत्संग में, साधना में वहां नहीं होता। जिसका मन सत्संग-साधना में एकाग्र हो जाता है, उनमें डूब जाता है वह व्यक्ति धन्यवाद का पात्र है। ऐसे कहने वाले लोग बहुत कम मिलेंगे कि सत्संग में गया

था और सत्संग में मन ऐसा रमा कि दो घण्टे का समय कैसे बीत गया कुछ पता नहीं चला। बाहर का सब कुछ भूल गया केवल सत्संग में मन लगा रहा।

सत्संग में बैठे रहते हैं और मन कहां-कहां घूमा करता है। ऐसे कहने वाले मिलेंगे कि यार, अमुक जगह गया था नाच हो रहा था, नाच देखते-देखते चार घण्टे का समय कैसे बीत गया कुछ पता ही नहीं चला या ऐसे ही अन्य उदाहरण देने वाले आपको बहुत मिल जायेंगे। इसमें कारण है मन की बहिर्मुखता। जिससे मन विकारी हो उन बातों में बड़ा रस आता है, बड़ा आनन्द आता है। इसलिए मन उनमें डूबता है, एकाग्र होता है।

ज्ञान की बातें नीरस जान पड़ती हैं, उनमें रस नहीं आता, आनन्द नहीं आता, साधना में आनन्द नहीं आता इसलिए मन उनमें डूबता नहीं है, एकाग्र नहीं होता। साधना में लाभ का निश्चय भी नहीं है इसलिए मन उसमें डूबता नहीं है। जहां लाभ का निश्चय होगा, जिसमें रस आयेगा उसमें मन डूबेगा, एकाग्र होगा निश्चित रूप से होगा। इसमें दो मत नहीं हैं।

आवश्यकता है ध्यान साधना को, विवेक-विचार की बातों को, आत्म चिंतन को जीवन का सबसे आवश्यक काम समझना। आप जो कुछ करते हैं सुबह से शाम तक, अपना काम नहीं करते, पराये का काम करते हैं। पराये का काम क्या है? पराये का काम है शरीर का काम, संसार का काम। कितना भी हम घर का काम करते रहें, घर को खूब लीपें-पोतें, उसकी सुरक्षा करें और जो अन्य काम हैं उनमें भी कितना भी विकास कर लें किन्तु उनमें जीवन की सफलता नहीं होगी। जो चीजें बार-बार बिगड़ती हैं, जिसका स्वभाव ही है बिगड़ना उनको सम्हालकर एकरस कैसे रखा जा सकता है। दुनिया में कोई चीज ऐसी नहीं है जो बनी हो और बिगड़ी न हो। सबसे बिगड़ाऊ तो हमारा शरीर ही है। कबीर साहेब ने कहा है—“काया बिगुर्चन अनबनि भांती।” यह शरीर ही बिगड़ने वाला है तो अन्य चीजों की बात ही क्या है?

दुनिया की हर चीज़ बिगड़ने वाली है और उन बिगड़ने वाली चीज़ों को सम्हालते-सम्हालते जीवन ही समाप्त हो जाता है। कौन ऐसी चीज़ है जो आज तक संसार में एकरस और अपरिवर्तित हो। कोई ऐसी चीज़ दिखाई नहीं पड़ती है फिर भी सारा समय उसके लिए दे रहे हैं। अपना आपा, अपना राम, अपना स्वरूप जो एकरस है, अपरिवर्तित है, शाश्वत है और जो कभी बिगड़ ही नहीं सकता, नष्ट नहीं हो सकता, छूट नहीं सकता, क्या उसके लिए कभी कुछ समय निकाला गया? उधर ध्यान दिया गया?

कोई आत्म चिंतन की बात करने लग जाये तो जल्दी ही मन ऊब-घबरा जाता है तो फिर मन उसमें डूबेगा कैसे? इसलिए साधना में आनन्द आये, प्रयास यह करिये। सद्गुरु श्री विशाल साहेब ने कहा है—

जाहि मनन में सुख नितै, ध्यान क्रिया सुख ध्येय।

घाटा तेहि में कौन है, जो औरहि चित्त देय॥

(विशाल वचनामृत)

जिसके मनन में ही सुख है। ज्ञान, विवेक, विचार, आत्मचिंतन, सद्गुण-सदाचार के काम आप कर पायें या न कर पायें, केवल सोचकर देखिये इसको, ज्ञान की बातें, सद्गुण-सदाचार की बातें, सेवा-साधना की बातें, विवेक-वैराग्य की बातें, शरीर की नश्वरता और आत्मा की अमरता की बातें। मन की दशा क्या होती है? और दूसरी तरफ आप राग-रंग की बात सोचें, विषय-वासना की बात सोचें तो दोनों स्थिति में मन की दशा का अंतर जमीन और आसमान का अंतर है।

जिस ज्ञान के चिंतन-मनन, सोचने-विचारने में ही लाभ है, जिसमें मन निर्मल होता है उसमें ध्यान करें, उसके लिए प्रयास करें तो क्या पूछना है?

यह जो साधना है इसमें आपको कौन-सा घाटा लग रहा है जिससे इसको छोड़कर अन्य तरफ मन को दौड़ा रहे हैं? इसलिए मन को अन्यत्र न दौड़ायें, साधना में ही मन लगायें और वह साधना में कब लगेगा? जब आनन्द आयेगा। आनन्द कब आयेगा? जब इसमें लाभ

का निश्चय होगा। सांसारिक हानि-लाभ तो कितने हुए और कितने गये वह तो चलता रहता है। एक बार आध्यात्मिक लाभ हो गया, आत्मलाभ हो गया तो फिर सारा घाटा सदैव के लिए समाप्त हो जाता है।

समस्या यह नहीं है कि मन एकाग्र नहीं होता है। मन तो सबका एकाग्र होता है, लेकिन जहां चाहिए वहां एकाग्र नहीं होता, जहां नहीं चाहिए वहां एकाग्र होता है।

खास समस्या यह है कि मन निर्मल-पवित्र नहीं है क्योंकि उसके लिए प्रयास नहीं किया गया। मन की निर्मलता के लिए जहां से इसकी प्रेरणा मिलती है वहां जाकर ध्यानपूर्वक बातों को सुना नहीं, उसके लिए साधना-प्रयास किया नहीं।

अपने जीवन की एक-एक क्रिया को देखें। खाली क्रिया को ही नहीं, क्रिया को तो देखना ही है, जो बात सोचते हैं उस सोचने को देखें, जो बात बोलते हैं उस बोलने को देखें। तन, मन और वचन की हर क्रिया को बारीकी से देखें, उसका अध्ययन करें, निगरानी करें कि गलत क्रिया तो नहीं हो रही है। जो निरंतर सावधान रहता है और अपने मन-वचन-इन्द्रियों पर निगरानी करता है वह धीरे-धीरे विकारों से ऊपर उठता चला जाता है और ऐसा समय आता है जब मन पूर्ण निर्विकार हो जाता है, पूर्ण पवित्र हो जाता है। मन निर्विकार-पवित्र हो गया तो मन की चंचलता की समस्या खतम। फिर तो लक्ष्य की ही प्राप्ति हो जाती है।

इसलिए मन को एकाग्र भी करना है और पवित्र भी करना है। मन को कहां एकाग्र करना है? आत्मचिंतन में, ज्ञान, विवेक, विचार में। मन की एकाग्रता और निर्मलता दोनों क्रिया साथ-साथ चलेगी और पूरी भी होगी।

आप देखेंगे अब तक जीवन में जिस सुख का अनुभव नहीं हुआ था उस सुख का अनुभव स्वयं करने लग जायेंगे, किसी के प्रमाण देने की ज़रूरत नहीं होगी।

—धर्मन्द्र दास

क्रोध : कारण और निवारण

लेखक—नारायण दास

कहहिं कबीर सोई जन मेरा, जो घर की रारि निबेरे।

(बीजक, शब्द-)

सद्गुरु कबीर साहेब कहते हैं कि वही मेरा भक्त एवं अनुगामी है, जिसने अपने घर का झगड़ा समाप्त कर दिया है।

झगड़े दो प्रकार के होते हैं—एक अन्दर का और दूसरा बाहर का। बाहर के झगड़े से सभी परिचित हैं। बाहर का झगड़ा व्यक्तियों के साथ होता है। जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति होते हैं। बाहर का झगड़ा रुपया-पैसा, जगह-जमीन आदि को लेकर तथा मान-सम्मान में ठेस पहुंचने पर होता है। अन्दर के झगड़े का कारण है क्रोध। क्रोध क्यों आता है? क्रोध आने के कई कारण हैं।

1. अपने गुणों का अभिमान होने से क्रोध आता है। जब आदमी को यह अभिमान हो जाता है कि मैं सबसे अधिक ज्ञानी, गुणवान, रहनी सम्पन्न, ईमानदार, सेवा भावी एवं मेहनती हूँ तो सामने वाले व्यक्ति साधारण तथा तुच्छ मालूम पड़ते हैं। जिसके कारण उन्हें देखकर क्रोध आता रहता है। क्रोध के आवेश में आदमी सामने वाले को भला-बुरा कहता रहता है और अपने अभिमान को बढ़ावा देता रहता है।

2. दूसरे में सदैव दोष देखते रहने से क्रोध आता है। दोष देखने की आदत बहुत ही गलत है। जब दोष देखने की आदत हो जाती है तब हरक्षण दूसरे की गलती पर ही दृष्टि टिकाये रहता है। कहां गलती करता है, कब करता है। उसी को देखता रहता है। जैसे ही गलती हुई बस उन्हें टोक देता है। दूसरों के सामने उनकी गलती बताकर उनको बदनाम कर देता है। सामने वाला व्यक्ति दिन भर में कई अच्छा काम किया उस पर उसका ध्यान नहीं जाता है। दो-चार गलती किया उसी पर ध्यान जाता है। क्योंकि दोष देखने की आदत है।

दृष्टि दो प्रकार की होती है। एक गुणग्राही दृष्टि और दूसरी दोष दृष्टि। जब दृष्टि गुणग्राही होती है तब आदमी अच्छा देखता है, किन्तु जब दोष दृष्टि हो जाती है तब

गलत देखता है। हमेशा दोष ही देखता रहता है। एक होती है मक्खी और दूसरी होती है मधुमक्खी। मक्खी प्रायः गंदी वस्तु पर बैठती है और मधुमक्खी फूलों पर बैठती है। हमारी दृष्टि मक्खी की तरह न होकर मधुमक्खी की तरह होनी चाहिए। जिससे हम दुर्जन में भी सज्जनता एवं सद्गुण देख सकें।

संसार में ऐसा कोई व्यक्ति न हुआ है और न कभी होगा जिसके जीवन में सिर्फ दुर्गुण ही दुर्गुण हों। जिसे हम दुर्गुणी कहते हैं उसके जीवन में भी कुछ-न-कुछ सद्गुण रहते ही हैं। बशर्ते हमारी दृष्टि सही हो। गाय के स्तन में दूध भी रहता है और खून भी। बछड़ा को दूध मिलता है और जोंक को खून। उसी प्रकार सद्गुणी को सामने वाले व्यक्ति में सद्गुण दिखते हैं और दुर्गुणी को दुर्गुण दिखते हैं। अपने स्वभाव तथा सोच के अनुसार आदमी अपनी दृष्टि बना लेता है। इसलिए दोष देखने की आदत न बनाये। आदमी दोष देख-देखकर अपने अन्दर बहुत दोष भर लेता है। फिर वह भूल ही जाता है कि इंसान अच्छे भी होते हैं। वस्तुतः जो आदमी सदैव दोष देखता रहता है उसका मन सदैव खिन्न रहता है। जिसके कारण उसे थोड़ी-थोड़ी बातों में क्रोध आता रहता है।

. क्षमा का महत्त्व न जानने से क्रोध आता है। गलती जान-बूझकर किया हो या भूल से, गलती तो हो गयी। अब उसको लेकर क्रोध करना, डांटना, कटु कहना, मारना, यह सब क्षमा के महत्त्व को न जानने के कारण होता है। गलती तो सबसे होती है। जब खुद से गलती होती है तो दूसरों से भी गलती होना स्वाभाविक है। फिर क्रोध करके अपने को अशांत क्यों करते हैं। दूसरों को भी तकलीफ क्यों देते हैं। क्षमा करने से खुद को शान्ति मिलती है और दूसरों को भी शान्ति मिलती है।

क्षमा का बहुत बड़ा महत्त्व है। क्षमा महान व्यक्ति का आभूषण होता है। वे अपने साथ दुर्व्यवहार करने वालों को क्षमा कर देते हैं। महात्मा गांधी के ऊपर

दक्षिण अफ्रीका में अण्डे फेंके गये। वहां के अंग्रेजों ने कहा—गांधी, इन लोगों के विरुद्ध कार्यवाही करना चाहिए। गांधी जी ने कहा—मैं इन लोगों को दिल से माफ करता हूं। इन पर कोई कार्यवाही नहीं करूंगा। यही है महान व्यक्ति के महान गुण—अपने को कष्ट देने वालों को दिल से माफ कर देना। लोग तो मजबूरी में माफ करते हैं। परन्तु महान व्यक्ति सहज ही दिल से माफ कर देते हैं। क्षमा करने से आदमी सदैव सुखी तथा निर्बैरी रहता है। जो व्यक्ति अनुचित व्यवहार करता है उसका भी धीरे-धीरे सुधार होता है।

4. गुण ग्रहण का लक्ष्य न रखने से क्रोध आता है। आदमी दूसरों की बढ़ोत्तरी, सफलता, प्रसिद्धि, कला, सरलता, विनम्रता, सद्गुणों को देख-देखकर जलता रहता है। वह उनसे प्रेरणा लेकर अपनी उन्नति करना नहीं चाहता है। सिर्फ उनसे ईर्ष्या करता रहता है। जो जितनी ईर्ष्या करेगा उसको उतना ही अधिक क्रोध आयेगा। क्रोध के कारण उसकी योग्यता नष्ट होती जायेगी और सामने वाले की उन्नति होती जायेगी। यदि आदमी का लक्ष्य हो जाये कि हम गुण ही ग्रहण करेंगे तो ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा जिसके अन्दर गुण न हो। आदमी दूसरों में गुण क्यों नहीं देख पाता है? इसका एक ही कारण है, उसे सदैव यह भ्रम रहता है कि मैं ही सबसे अधिक गुणवान हूं। फिर दूसरे को वह क्या समझेगा। मैं ही सबसे अच्छा हूं इस अहंकार को दफना दें और सब में गुण-अच्छाई देखना शुरू करें तब क्रोध समाप्त हो जायेगा।

5. प्रतिकूल व्यवहार न सह पाने के कारण क्रोध आता है। आदमी हर क्षण अपने अनुकूल ही सब कुछ चाहता है। जो कभी सम्भव नहीं है। जब आदमी के साथ कोई कुछ प्रतिकूल व्यवहार कर देता है तो वह सह नहीं पाता है और क्रोध में आग बबुला हो जाता है। हर परिस्थिति को झेलने का साहस आदमी के अन्दर होना चाहिए। कोई हमारा गुलाम नहीं है जो हरक्षण हमारे अनुकूल ही व्यवहार करता रहेगा। वह अपने मन एवं स्वभाव के अनुसार भी करेगा। हमारे मन के अनुकूल हुआ तो खुश और प्रतिकूल हुआ तो नाखुश।

यह गिरगिट की तरह जीवन जीने का तरीका ठीक नहीं है। अनुकूलता मिले या प्रतिकूलता सम रहना चाहिए।

6. अहंकार में ठेस लगने पर क्रोध आता है। मैं घर-परिवार, संस्था-समाज, पार्टी का मुखिया हूं, दूसरों से अधिक योग्य, ज्ञानी, समझदार हूं, मेरे भरोसे ही घर-परिवार आदि चल रहे हैं, किंतु लोग मेरी योग्यता को समझ नहीं पाते हैं। मेरी आज्ञा का पालन नहीं करते हैं, मेरी योग्यता के हिसाब से मुझे सम्मान नहीं देते हैं। इन सारी हीन भावनाओं के कारण सदैव क्रोध आता रहता है। आदमी को अनेक गुणों से योग्य होना अच्छी बात है। परन्तु इसका अहं पालना और दूसरों से इसके लिए सम्मान पाने की इच्छा रखना अपने आप को अशांत करना है।

7. कामनाओं में बाधा पड़ने पर क्रोध आता है। आदमी को कोई चीज पाने की कामना है और उसे वह पाना चाहता है। यदि उसमें कोई बाधा डालता है तो क्रोध आता है। कई जगह देखा जाता है किसी जमीन या मकान को कोई आदमी खरीदना चाहता है परन्तु दूसरा आदमी अधिक कीमत चुकाकर खरीद लेता है तो इतना क्रोध आता है कि खरीदने वाले की हत्या तक कर देता है। वस्तुतः शक्ति भर प्रयास हो किसी को किसी प्रकार बाधा न पहुंचे। दूसरे को हानि पहुंचा कर अपना लाभ न कमाये। खुद जियो और दूसरे को भी जीने में सहयोग करो। यहां किसी की सारी की सारी इच्छाएं पूरी नहीं होती। मेहनत करें आपकी जरूरत की सारी चीजें समय-समय पर मिलती रहेंगी।

8. प्रिय व्यक्ति की आलोचना सुनने पर क्रोध आता है। जिसे लोग दिल से प्यारा मानते हैं, जिसके प्रति बहुत मोह है उसकी यदि कोई आलोचना कर देता है तो क्रोध आता है। प्रिय व्यक्ति का अच्छा काम तो अच्छा लगता ही है परन्तु उसका गलत काम भी अच्छा लगता है। जैसे कि धृतराष्ट्र को दुर्योधन के प्रति बहुत मोह था। दुर्योधन पाण्डवों से सदैव वैर रखता था। उनको मारने-मिटाने के लिए सदैव षड्यन्त्र रचता रहता था। इस बात को कोई धृतराष्ट्र से कहता था तो उनको कहने वाले के प्रति बहुत क्रोध आता था। किसी के प्रति इतना मोह न

कर ले कि न्याय-अन्याय का भी ख्याल न रख पाये। प्रिय व्यक्ति यदि गलत करता है तो उसे भी दण्ड देना चाहिए जिससे उसका सुधार हो और उसके कारण किसी को कष्ट न पहुंचे।

ये सब क्रोध आने के कारण हैं। क्रोध आदमी को जलाता रहता है। जिसके कारण शरीर में बहुत नुकसान पहुंचता है। एक पल जब क्रोध आता है तो शरीर की 6 नाड़ियां प्रभावित होती हैं। उनकी शक्ति घट जाती है। काम करना बन्द कर देती हैं। और जब आदमी थोड़ा भी मुस्कराता है तो शरीर की 6 नाड़ियों को शक्ति मिल जाती है। जिसके कारण शरीर में ताजगी आ जाती है। जब क्रोध आता है तो आंखें लाल हो जाती हैं। श्वास तेजी से चलने लगता है। धड़कन बढ़ जाती है। शरीर कांपने लगता है। इन सब कारणों से शरीर को बहुत हानि पहुंचती है। इसीलिए क्रोध की आग से तुलना की जाती है। आग किसी दूसरी वस्तु को जलाती है परन्तु क्रोध स्वयं को जलाता है। माचिस की तीली किसी दूसरी वस्तु को जलाने के पूर्व स्वयं जलती है। यदि तीली पहले स्वयं न जले तो किसी भी वस्तु को नहीं जला सकती है। उसी प्रकार आदमी क्रोध करके पहले स्वयं जलता है फिर दूसरे को जलाना चाहता है। दूसरा आदमी कदाचित न भी जले परन्तु क्रोधी आदमी जलने से बच नहीं सकता है। आदमी क्रोध करके अपनी बहुत हानि कर लेता है। पश्चाताप भी करता है परन्तु फिर क्रोध करता है।

सवाल उठता है कि क्या बिलकुल ही क्रोध न करे? परिस्थिति के अनुसार थोड़ा-बहुत क्रोध करना गलत नहीं है परन्तु क्रोध संतुलित होना चाहिए। इसलिए क्रोध के तीन प्रकार बताये गये हैं—

1. **सात्त्विक क्रोध**—व्यक्ति का सुधार, परिवार तथा समाज की व्यवस्था चलाने के लिए थोड़ा डांटना, जोर से कहना इसे सात्त्विक क्रोध कहा जाता है। उसमें किसी के अहित की भावना नहीं रहती है। जैसे कि घर में कुछ सामान अस्त-व्यस्त पड़ा है, सब देख रहे हैं, परन्तु कोई उन सामानों को व्यवस्थित जगह नहीं रख रहा है तो घर का मुखिया घर के सदस्यों को डांटता है,

क्यों इनके प्रति ध्यान नहीं दे रहे हो? तो व्यवस्था की दृष्टि से कहा गया है न कि किसी का दिल दुखाने की भावना से। सुधार की भावना से डांटा गया जो उनके हित में है। किन्तु मुखिया को एक बात पर ध्यान देना चाहिए कि डांटने के साथ चेहरे पर मुस्कान भी हो न कि आंखें लाल हों। वाणी में कटु शब्द का प्रयोग न हो। डांटने के कुछ क्षण बाद स्वयं उनसे प्रेम से बात करे। जिससे किसी के मन में गांठ नहीं बनेगी। इसलिए सात्त्विक क्रोध करना उचित है।

2. **राजसिक क्रोध**—अहंकारपूर्वक कहना कि मैं जो कहता हूँ वही करो। जितना कहता हूँ उतना ही करो। जो कहता हूँ वही मानो। अपना दिमाग लगाओ ही मत। इसे राजसिक क्रोध कहा जाता है। ऐसा कहना बहुत ही गलत है। इस ढंग से कहना अपने अधिकार का दुरुपयोग करना है। इस ढंग से किसी का दिल नहीं जीत सकते हैं। किसी को अपना नहीं बना सकते हैं। बल्कि सबको अपना दुश्मन तथा वैरी बना लेना है। इसलिए ऐसा क्रोध न करें।

. **तामसिक क्रोध**—किसी व्यक्ति की गलती को दस आदमी के बीच में कहना, दस आदमी की नजर में सामने वाले को नीचा दिखाना इसे तामसिक क्रोध कहा जाता है। इस ढंग की आदत बहुत ही गलत है। किसी की गलती को दूसरों को बताना, उनका अपमान करना गलत है। ऐसा करने से कभी एकता तथा आपस में प्रेम नहीं होगा।

क्रोध के तीन भेद भी बताया गया है—

1. **अल्पकालीन क्रोध**—आदमी किसी कारण वश थोड़ी बातों को लेकर थोड़ा कड़े स्वर में बोलता है फिर शांत हो जाता है। इसमें विवाद तथा झगड़ा नहीं होता है। जैसे किसी ने किसी से पानी मांगा। आदमी पानी लाने गया। थोड़ी देर हो गयी। इतने में कहता है—अरे! पानी मांगा, कहां चला गया। एक गिलास पानी लाने में दो घण्टा लगाओगे? इतना कहकर शांत हो गया। आदमी सोचता है कैसा मनुष्य है थोड़ा धैर्य भी नहीं रखता है। चुपचाप पानी लाकर रख देता है और

चला जाता है। थोड़ा धैर्य तो रखना ही चाहिए। कोई अपने हाथ में थोड़े रखा है जो मांगते ही लाकर दे दे।

2. अस्थायी क्रोध—किसी से किसी कारणवश झगड़ा तथा विवाद हो जाता है। आपस में बातचीत उठना-बैठना कुछ दिनों के लिए बंद हो जाता है फिर 2-4 दिन बाद धीरे-धीरे बातचीत शुरू हो जाती है। इस ढंग का विवाद अक्सर पति-पत्नी में होता है। थोड़ी-थोड़ी बातों को लेकर लड़ जाते हैं। फिर बोलना बंद हो जाता है। 2-4 दिन जब बीत जाते हैं फिर एक दूसरे को मनाना शुरू कर देते हैं।

. स्थायी क्रोध—किसी कारणवश एक बार विवाद हो गया बस जीवन भर के लिए दुश्मनी ठान लिये। यह क्रोध प्रायः भाई-भाई के बीच ज्यादा होता है। कुछ रुपये, कुछ जमीन को लेकर। जो मिथ्या स्वार्थ मात्र है। स्वार्थ तथा अहंकार को त्यागकर प्रेमपूर्वक व्यवहार करने से जिंदगी सुखदायी होती है।

इन सब में सिर्फ सात्त्विक क्रोध हितकर है जिससे स्वयं को संतुष्टि मिलती है और परिवार तथा समाज की व्यवस्था भी सुचारू रूप से चलती है। बाकी क्रोध तो सिर्फ मन का अहं मात्र है। आदमी कहता है क्या करें क्रोध आ गया अपने को सम्हाल नहीं पाया। समझता हूँ क्रोध नहीं करना चाहिए और करना नहीं चाहता हूँ परन्तु क्रोध आ ही जाता है। क्या करूँ। क्रोध शांत करने के कुछ नियम हैं—

1. जब क्रोध आये तो मौन हो जाये।
2. जब क्रोध आये तो जहां है वहां से दूसरी जगह चले जाये।
- . जब क्रोध आये तो एक गिलास ठंडा पानी पी ले।
4. जब क्रोध आये तो आंख बंद करके चुप-चाप बिस्तर पर लेट जाये।
5. जब क्रोध आये तो अपने इष्ट या गुरु का ध्यान करे या श्वास का ध्यान करे। इन सारे नियमों में से कोई भी एक नियम तत्काल अपना ले तो क्रोध शांत हो जायेगा। और होने वाले अनर्थ से आप बच जायेंगे।

धन्य-धन्य गुरु सन्त कबीर

रचयिता—डॉ. दयाराम मौर्य 'रत्न'

धन्य-धन्य गुरु सन्त कबीर।
निडर विलक्षण चिन्तक अतुलित,
खरी बात आजीवन बोले।
ईश्वर-सृष्टि भेद बतलाया,
छिपे ज्ञान के ताले खोले।
सत्य सुधा बरसाया नीर।
धन्य - धन्य गुरु सन्त कबीर

रहे साधु करते थे अर्जन,
निज व्यवसाय बनाते कपड़ा।
ज्ञान अपर्मित परम तत्व का,
आकर्षक व्यक्तित्व बड़ा।
परसेवा के लिये अधीर,
धन्य-धन्य गुरु सन्त कबीर

धर्म - प्रेम - सद्भाव परस्पर,
आडम्बर का किया विरोध।
ईर्ष्या-द्वेष-घृणा का मर्दन,
त्यागो हिंसा छोड़ो क्रोध।
सदा हरो दूजों की पीर,
धन्य - धन्य गुरु सन्त कबीर

हिन्दू मुस्लिम सिख-ईसाई,
नहीं उचित आपस का अन्तर।
मानवता का पाठ पढ़ाया,
संयोजन को रहते तत्पर।
खरी बात के मारे तीर,
धन्य-धन्य गुरु सन्त कबीर

रक्तपात - हिंसा - उत्पीड़न,
भेदभाव मानव का पाप।
नर-नारी सब जीव बराबर,
रोग व्याधि हर लो संतापे।
क्षणभंगुर है अधम शरीर,
धन्य - धन्य गुरु सन्त कबीर

शंका समाधान

प्रश्ना—अज्ञात, रायपुर, छत्तीसगढ़

1. प्रश्न—प्रार्थना और ध्यान दोनों में किसका ज्यादा महत्त्व है?

उत्तर—प्रार्थना का अर्थ है किसी से कुछ मांगना, याचना करना और ध्यान का अर्थ है मन की एकाग्रता, अन्तर्मुखता, आत्मलीनता, निर्विचार दशा।

दुख-विपत्ति से छुटकारा पाने एवं आत्मकल्याण की प्राप्ति के लिए किसी अदृश्य शक्ति से आत्मनिवेदन करना, अनुनय-विनय करना प्रार्थना है। इससे अपने मन में सात्त्विक भावना आती है, मन सरल होता है और मन का बोझ हलका होने के साथ-साथ थोड़ी सहनशक्ति बढ़ती है। साथ ही यह विश्वास बढ़ता है कि मैंने भगवान से निवेदन कर दिया है अब मेरा काम भगवान बना देंगे। परन्तु यह अपने मन की एक भावना मात्र ही है, इससे न आत्मिक विकास होगा और न समस्याओं का समाधान ही होगा। हमारी प्रार्थना सुनने वाला कोई अदृश्य-अलौकिक देव कहीं बैठा नहीं है। अधिक प्रार्थना आदमी को भावुक बनाने के साथ-साथ कर्म विमुख बना देती है।

यदि जीवन में कोई दुख है तो प्रार्थना करने से वह दूर नहीं होगा क्षणिक संतोष भले मिल जाये। दुख को सचमुच दूर करना है तो दुख के कारण को समझना होगा और वह है हमारे पूर्व के या आज के गलत कर्म हमारे गलत कर्मों के फल में जो दुख आया है उसको सहन करते हुए आज से हम मनसा-वाचा-कर्मणा गलत कर्म। करना सर्वथा छोड़ दें, फिर आगे हम दुखों से बच जायेंगे। आज जो दुख आ गया है उससे हम किसी तरह बच नहीं सकते। उसे तो हमें भोगना ही होगा, चाहे हम कितनी भी प्रार्थना करते रहें।

प्रार्थना मन को सरल-कोमल-विनम्र बनाने के लिए है तब तो वह कुछ हद सार्थक है, यदि मनचाही वस्तु-योग्यता पाने के लिए है तो मात्र भावुकता है, उससे

जीवन में कोई परिवर्तन नहीं होगा। प्रार्थना के साथ-साथ जब मन में शुभ-सकारात्मक विचार रखकर शुभ कर्मों का संपादन होगा तब जीवन में परिवर्तन होगा।

प्रार्थना तो रागी-विरागी, भोगी-योगी, दुर्जन-सज्जन सब कर सकते हैं, करते ही हैं, परन्तु ध्यान रागी, भोगी, दुर्जन नहीं कर सकते। हां, वे ध्यान का दिखावा कर सकते हैं। ध्यान तो विरागी, योगी एवं सज्जन ही कर सकते हैं, वह भी तब जब निरंतर शुभ-चिन्तन एवं शुभ कर्म द्वारा शुद्ध चित्त से बराबर अभ्यास किया जाये।

वास्तविक ध्यान है मन का संकल्प-विकल्प रहित पूर्ण मौन निर्विचार हो जाना। इस स्थिति में शुद्ध सत्ता मात्र, आत्म अस्तित्व ही शेष रह जाता है। बाहर की दुनिया होते हुए भी ऐसे ध्यानी पुरुष के लिए मानो नहीं रह जाती है। यह आत्मलीनता की दशा है।

व्यवहारकाल में मन का निर्विकार रहना और अभ्यासकाल में निर्विचार हो जाना—ध्यान की स्थिति है। ध्यान है अपने आप में लौट आना। अपनी मूल दशा में स्थित हो जाना।

उक्त विवेचन से सहज समझा जा सकता है कि प्रार्थना की अपेक्षा ध्यान ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। प्रार्थना प्रत्यक्ष एवं परोक्ष में भटकना है और ध्यान अपरोक्ष स्व चेतन सत्ता में स्थित होना है।

दुनिया में सदैव से दो प्रकार के लोग रहे हैं एक भावनावादी, दूसरे विवेकवादी। भावनावादी को विश्वासवादी भी कह सकते हैं। विश्वासवाद में परम तत्त्व, परम सत्ता (उसका नाम चाहे जो रख लिया जाये, उस) को अपने से अलग मानकर उससे मिलने, उसके दर्शन करने या उसे खुश कर उससे कुछ पाने के लिए प्रार्थना पर जोर दिया जाता है। यहां तक प्राकृतिक घटनाओं को अपने मनमाफिक परिवर्तित करना या घटाना चाहते हैं, जो कि कभी संभव नहीं है। इसलिए भावना एवं विश्वासवादी जिंदगी भर प्रार्थना करते हुए भी पूर्ण आत्मतृप्ति-आत्मशांति-आत्मसंतुष्टि का अनुभव नहीं कर पाते।

विवेकवाद में परम तत्त्व, परम सत्ता को अपने से अलग माना ही नहीं जाता, किन्तु उसमें यह बोध रहता है कि जिसे मैं पाना चाहता हूँ वह मेरा अपना आपा ही है, वह मैं खुद ही हूँ, इसलिए उसमें कहीं बाहर भटकना नहीं होता और न किसी को पुकारना होता है। किन्तु मन को बाहर से लौटाकर अन्तर्मुख, आत्मलीन करना है और यही ध्यान है।

किसी भी प्रकार के दुख, विपत्ति, प्रतिकूलता आने पर मन को सांत्वना-संतोष देने के लिए प्रार्थना करना गलत नहीं है परंतु प्रार्थना में ही न रुककर आगे ध्यान की तरफ बढ़ना चाहिए। प्रार्थना की अपेक्षा ध्यान ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। मन को पूर्ण विश्राम ध्यान में ही मिलेगा, प्रार्थना में नहीं।

2. प्रश्न—किसी प्रकार की प्रतिकूलता-दुख आने पर मन को कैसे समझायें और शांत रखें?

उत्तर—हर कार्य के पीछे कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है। बिना कारण के कार्य कभी होता ही नहीं। दुख एक कार्य, परिणाम या फल है और इसका कारण है हमारे द्वारा किये गये गलत कर्म। वे गलत कर्म चाहे आज के हों चाहे कभी पूर्व के। भले उसके बारे में हमें आज कोई जानकारी न हो। जब हमारे जीवन में कोई दुख-प्रतिकूलता आये तब हमें यह सोचना चाहिए कि मेरे ही गलत कर्मों के फल-भोग में यह दुख आया है। इसमें कोई दूसरा दोषी नहीं है, यदि कोई दोषी है तो मैं स्वयं हूँ क्योंकि यदि मैं कोई गलत कर्म न किया होता तो यह दुख क्यों आता। जैसा बीज मैं बोऊंगा वैसी ही फसल तो मुझे काटने को मिलेगी, तब मैं दूसरों को दोष क्यों दूँ, दूसरों पर क्षुब्ध-क्रोधित क्यों होऊँ।

दुख आयेगा तो कोई न कोई माध्यम से आयेगा। वह माध्यम चाहे प्राकृतिक घटना हो या कोई प्राणी-व्यक्ति हो। जब किसी प्राकृतिक घटना से कोई हानि होती है, प्रतिकूलता आती है, दुख सहना पड़ता है तब हम किसी पर क्रोध न कर उसे चुपचाप सहन कर लेते हैं, जैसे ही किसी व्यक्ति द्वारा दुख मिलने या हानि होने पर शांत रहकर उसे सहन करना चाहिए। वर्तमान में

प्रत्यक्ष देखते हुए कि अमुक व्यक्ति मुझे दुख दे रहा है या मेरी हानि कर रहा है यह समझना चाहिए कि यह व्यक्ति मेरे दुख या हानि का कारण नहीं है, यह तो सिर्फ माध्यम है, कारण तो मेरे अपने बुरे-गलत कर्म हैं, जिसके कारण मुझे यह दुख सहन करना पड़ रहा है। ऐसी समझ रखने पर उस व्यक्ति के प्रति क्रोध नहीं आयेगा और न उसके साथ कोई दुर्व्यवहार ही होगा।

यदि मैं गलत-बुरे कर्म न किया होता तो मेरे जीवन में दुख आता ही क्यों। जब मेरे अपने ही गलत कर्म के परिणाम में मुझे दुख मिल रहा है तब दूसरों पर क्रोध करना, उनके साथ दुर्व्यवहार करना, बदला लेने की भावना रखना अपने कर्म-बंधन को और अधिक पुष्ट करना तथा आगे के लिए दुखों का बीज बोना है। यदि आज हम शांत रहकर सुखी जीवन जीना चाहते हैं और आगे के लिए दुख के बीज नहीं बोना चाहते तो हमें विवेक करना होगा कि यह दुख मेरे अपने गलत कर्मों के फल में आया है और इसके बहाने मेरे कर्मों का बोझ हलका हो रहा है। और साथ ही जिस व्यक्ति के माध्यम से दुख मिल रहा है उसके प्रति यह भावना रखना होगा कि यह व्यक्ति मेरे कर्म-बंधनों के बोझ को हलका करने में सहयोगी बनकर मेरा उपकार रहा है। यह तो मेरा उपकारी है ऐसा समझकर उसके प्रति कृतज्ञ होना और मन से उसका हित सोचने से दुख को सहन करने में शक्ति मिलेगी और मन शांत रहेगा।

जीवन में घटित होने वाली किसी भी घटना की गहराई में जाकर चिंतन करने से अंत में जिम्मेदार हम स्वयं ही ठहरेंगे, तब दूसरों पर दोषारोपण क्यों! पूर्व में हमने जो गलत कर्म कर लिया है उनका परिणाम तो हमें देर-सबेर भोगना ही होगा। अतः पूर्व में किये गये गलत कर्मों के परिणाम में आज जो दुख आया है उसे निर्विकार भाव से सहन करें और आज अधिक से अधिक शुभ कर्म करते चलें तथा जो बन सके दूसरों का भी हित करते चलें। यही दुख-प्रतिकूलता में शांत रहने का उपाय है।

—धर्मेन्द्र दास

आत्मा के पोषण के लिए दूसरों की मदद करें

फारस के प्रसिद्ध विद्वान, दार्शनिक एवं चिकित्सक अबू अली सीना (980 से 107 ई.) के विचार

- * महान व्यक्ति दो कार्य हमेशा करता है। पहला, गलतियों को माफ करना और दूसरा, उन गलतियों को भूल भी जाना।
- * जब दुनिया पूरी तरह से झुका देती है, तभी प्रार्थना करने का सही समय होता है।
- * सब रखने से सफलता जरूर मिलती है।
- * ज्यादा बोलने से बचिए, क्योंकि ज्यादा बोलने से गलतियां होती हैं। बोरियत भी महसूस होने लगती है।
- * समझदार व्यक्ति के पास बोलने के लिए कुछ न कुछ हमेशा होता है। जबकि एक बेवकूफ व्यक्ति को कुछ बोलने की जरूरत महसूस होती है।
- * जो चीजें आप दूसरों में पसंद नहीं करते हैं, उन्हें खुद में भी नापसंद करना सीखें।
- * शरीर के पोषण के लिए खाना जरूरी है, इसी तरह आत्मा के पोषण के लिए दूसरों की मदद करना फायदेमंद होगा।
- * बहुत बार चुप रहना सबसे ताकतवर जवाब होता है।
- * जिस तरह सोना और चांदी का ध्यान रखते हैं, ठीक उसी तरह अपनी जुबान का भी ख्याल रखें।
- * कीमत पानी की नहीं, प्यास की होती है। जिंदगी का कोई मतलब नहीं, लेकिन मृत्यु ही सब कुछ है। बात कभी रिश्तों की नहीं होती, लेकिन विश्वास की है।
- * जो व्यक्ति दूसरों से ईर्ष्या करता है, वह कभी आराम नहीं कर पाता और जिस व्यक्ति में शिष्टाचार नहीं होता, उसे कोई प्यार नहीं करता है।
- * आपके पास कुछ भी नहीं है तो कोई बात नहीं। कम से कम यह दूसरों से भीख मांगने से तो बहुत बेहतर होगा।
- * हमारे दुश्मन किसी धर्म के नहीं हैं, लेकिन हमारा सबसे बड़ा दुश्मन अज्ञानता है।
- * सच बोलने से अच्छाई (भलाई) मिलती है और अच्छी सोच वाले व्यक्ति को जन्नत नसीब होती है।
- * आपकी हर उम्मीद सिर्फ और सिर्फ भगवान से होनी चाहिए। अपने पाप को छोड़कर दुनिया में कभी किसी

चीज से डरने की जरूरत नहीं है।

- * जब कभी आप बीमार हों तो डरने या घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। ज्यादा से ज्यादा उम्मीद करने की कोशिश करें।
- * जब दिल में कोई जज्बा नहीं होते, तो आंसू सूख जाते हैं। जबकि बार-बार पाप करने से हृदय पत्थर का बन जाता है।
- * गरीब व्यक्ति अपने ही देश में विदेशियों की तरह रहता है।
- * इतना सख्त होने की जरूरत नहीं है कि कोई आपको तोड़ दे। इतना नाजुक होने की आवश्यकता नहीं है कि कोई आपको दबाकर चला जाए।

(साभार : दैनिक भास्कर, रायपुर, जनवरी 2016)

मानव तू स्वयं विधाता है

रचयिता—कमलाकान्त

मानव तू स्वयं विधाता है,
अपने कर्मों का दाता है।
बाग लगाकर तू बबूल का,
आम कहा पाता है

ईश्वर को तू ही रचता है
पैगम्बर तू ही बनाता है।
तू गीता वेद पुरान रचा,
धर्मशास्त्र का तू निर्माता है

तू कितनी-कितनी खोज किया
कहना न मुझको आता है।
जहां तक आंखे जाती हैं
सब तेरा करिश्मा दिखाता है

तू ही सत्गुरु की खोज किया
तू ही सत् का राही है।
तू ही अपने को भूल गया,
मृग तृष्णा में धोखा खाया है

ध्यान और उसका स्वरूप

(परम पूज्य गुरुदेव श्री अभिलाष साहेब जी द्वारा कबीर संस्थान, इलाहाबाद में ध्यान शिविर की पूर्व संध्या पर दिनांक 2 08 2005 को दिया गया प्रवचन।—प्रस्तुति श्री रामकेश्वर जी)

पूजनीय संत समाज, प्रिय सज्जनो तथा देवियो!

जीवन के अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ही ध्यान और समाधि की साधना की जाती है। कुछ न सोचना ही ध्यान और समाधि है लेकिन शुरू से ही कुछ न सोचना बहुत मुश्किल है। हमारा मन बहुत सोचता है इसलिए पहले इसका संयम करना है और इसे किसी एक सोच में नियोजित करना है।

हमारा मन बाहर बिखरा है। उसी बिखराव को समेटकर मन को एकाग्र करना है। एकाग्र का अर्थ होता है—एक+अग्र—आगे एक। आगे एक बिन्दु में अपने मन को निगृहीत करना एकाग्रता का अभ्यास है और जब मन निगृहीत हो जाता है तब एकाग्रता है। जब एकाग्रता का अभ्यास बढ़ जाता है तब चित्तवृत्ति की शून्यता का अभ्यास किया जाता है। तब एकाग्र नहीं करना रहता है किन्तु वृत्ति को ही शांत कर देना होता है। वही अंतिम ध्यान है। सद्गुरु कबीर ने कहा है—“सहज ध्यान रहु, सहज ध्यान रहु, गुरु के वचन समाई हो।” ‘संतो सहज समाधि भली।’ ऐसा भी कहा है।

सहज समाधि क्या है? सहज समाधि है अपनी सहज दशा में रहना। आपकी सहज दशा क्या है—चैतन्य। आप चैतन्य हैं। आपका स्वभाव ज्ञान है। ज्ञान की दशा में रहना सहज समाधि है। कहीं किसी संकल्प में बहना नहीं, किन्तु अपने आप में जागरूक और चैतन्य रहना अपनी सहज दशा में रहना है। अगर हम रूप, शब्द, रस, गंध, स्पर्श में बह गये; काम, क्रोध, लोभ और मोह में बह गये तो हम सहज दशा में नहीं हैं। तब तो हम असहज दशा में हैं। हम पीड़ित हैं, कामी-कुचाली, लम्पट हैं या कहीं भी हम आकर्षित या उद्वेगित हैं, तो हम बह गये और तब हम सहज दशा में नहीं हैं।

सारा उद्वेग शून्य हो जाना, कहीं न बहना, अपनी सहज दशा है। सोचना जब बन्द होता है तब सहज दशा आती है। वह सहज दशा ही कैवल्य है। कुछ न सोचना ही कैवल्य दशा है और यह काल्पनिक नहीं एक वास्तविकता है। लेकिन जो इसका अभ्यास नहीं किया है, जो उसमें पहुंचा नहीं है उसे यह काल्पनिक लगेगा। जैसे जिसका चित्त पूर्ण निर्विषय नहीं हुआ है, उससे यदि यह कहा जाये कि साधना द्वारा मन विकारों से सर्वथा मुक्त हो जाता है तो वह समझ नहीं पायेगा।

आदमी का मन विषय-विकारों से एकदम मुक्त नहीं हो पाता। इन्द्रियां विषयों से मुक्त हो सकती हैं। आदमी इन्द्रियों से क्रिया न करे यह सम्भव है लेकिन उसका मन उधर की सोचेगा। इसलिए उसका मन बिलकुल निर्मल हो जायेगा ऐसा उसको विश्वास ही नहीं होगा क्योंकि उसको इसका अनुभव ही नहीं है, लेकिन यह दशा आती है।

ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की परिपक्व अवस्था जब आ जाती है तब इन्द्रियों की मलिन क्रियाएं तो पहले ही खतम हो जाती हैं, मन की मलिनता भी खतम हो जाती है और शुद्ध दशा हो जाती है लेकिन जो उस बाजार में नहीं गया है, वह उस सौदा को भला क्या जाने! जो वैसी दशा में पहुंचा ही नहीं है वह इस दशा को कैसे जाने! ऐसे ही चित्तवृत्ति की शून्यता की बात है इसको वह कैसे जाने। चित्त की वृत्तियों में तो रात-दिन बह रहा है और उससे वह मुक्त हो नहीं रहा है। साहेब ने उसके लिए कहा है—“ऐसा होय के ना मुआ, बहुरि न मरना होय।”

शरीर में रहते-रहते उस अवस्था में हमें पहुंचना है जो अंतिम है और वही ध्यान है। मर जाना ध्यान है। मौत ही अंतिम है। मौत में हमें सब भूल जायेगा और

उसकी बानगी हमें रोज गाढ़ी नींद के समय में मिलती है। जब हम गाढ़ी नींद में जाते हैं तब दुनिया हमारे लिए गायब हो जाती है।

रोज नींद में हमारी देह और हमारी दुनिया सब गायब हो जाते हैं। जब मौत होगी तब वृत्तियां एकदम सिमट आयेंगी। किसी-किसी की मौत अचानक भी हो जाती है। किसी-किसी को एकदम हार्ट-अटैक हो जाता है, किसी-किसी का हार्ट फेल हो जाता है और वह खतम हो जाता है। ऐसा भी होता है कि आदमी बिस्तर पर पड़ा है, तो बिस्तर पर पड़े-पड़े ही वह शक्तिहत होने लगता है और धीरे-धीरे उसे अचेती आने लगती है और धीरे-धीरे वह खतम हो जाता है। मौत ज्यादातर ऐसे ही होती है। इस ढंग से जब मौत होती है, तो स्थूल वृत्तियां डूबने लगती हैं और सबकी विस्मृति होने लगती है। स्मृतियां सिमटने लगती हैं और सिमटते-सिमटते बस मौत हो जाती है। यह मरने के समय की दशा है। देह में रहते-रहते यह दशा आये, तो यही जीवन की उच्च उपलब्धि है। इसी को साहेब ने कहा—“मरते-मरते जग मुआ, मुए न जाना कोय।”—मरते-मरते तो सब मरते ही हैं, लेकिन लोग ऐसा मरना नहीं मरते हैं, जिससे फिर मरना न हो। वह मरना क्या है। वह है अहंता और ममता को मार देना। जिसका अहंकार-ममकार मर गया वह जीवत-मृतक है। उसको साहेब ने जीवत-मृतक कहा है। वे कहते हैं—

मरिये तो मरि जाइये, छूटि परे जंजाल।

ऐसा मरना क्यों मरे, दिन में सौ सौ बार

साहेब की एक-एक बात ऐसी धारदार होती है जैसे तीर। सुनते ही वह हृदय को बेध देता है लेकिन कब, जब उन पर सोचा जाये तब। लोग तो मरने की बात सोचते ही भयभीत हो जाते हैं। कितने लोग डरते हैं कि कोई उनको गोली न मार दे, हार्ट अटैक न हो जाये। साहेब कहते हैं कि इस प्रकार तुम क्या मर रहे हो, “दिन में सौ-सौ बार” तुम मर रहे हो। अरे एकबार ही मर जाओ कि सब खतम हो जाय—“मरिये तो मरि जाइये।” साहेब कहते हैं कि जब से जन्म लिये हो, क्या पाये हो। हैरानी! हैरानी!! हैरानी!!! यही तो पाये हो

और क्या पाये हो। कुछ दिन और जी लोगे तो उलझनों के सिवाय और क्या पाओगे। इसलिए मर जाओ तो सब जंजाल ही खतम हो जाये।

आदमी के मन में हरदम भय सवार है। हरदम उसे भय सवार रहता है कि मर न जायें-मर न जायें। अरे, एक ही बार तो मरना है फिर रोज-रोज क्यों मर रहे हो। इसलिए किस प्रकार मर जाओ—अहंकार-ममकार को छोड़ो। शरीर तो एक दिन मरना ही है। फिर भय क्यों। अहंकार और ममकार को मर जाने दो लेकिन यह दशा मोह को छोड़ने से आती है, बतकही करने से नहीं आती है। हमलोग सब कुछ जानते हैं, प्रवचन करते हैं और सुन भी लिये हैं लेकिन आजतक जहां के तहां ही हैं। हमारा मोह नहीं मिटा इसलिए वह दशा नहीं आई। निरन्तर के अभ्यास से जब मन का मोह समाप्त हो जाता है, तब यह दशा आती है और तब मरना-जीना दोनों बराबर हो जाता है।

हम जिस संसार में बैठे हैं, इसमें एक भी कण हमारा नहीं है। हम अपने इस शरीर में बैठकर अपनी इन्द्रियों के झरोखे से दुनिया को जान रहे हैं लेकिन जिस दिन यह शरीर छूटा कि दुनिया गायब हुई। अगर यह शरीर और ये इन्द्रिय-झरोखे न होते, अगर शरीर में मैं न होता तो दुनिया हमारे लिए न होती और वही आजकल में होना है। यह सब भंग होगा। इसलिए पहले से भूलने का अभ्यास करो। ऐसी अवस्था में जाओ कि सब भूल जाये और तुम्हारा मोह छूटे। धीरे-धीरे वह दिन निकट आ रहा है। साहेब ने कहा है—

ज्यों कोरी रेजा बुने, नेरे आवे छोर।

ऐसा लेखा काल का, दौर सके तो दौर

जैसे कोरी-जुलाहा रेजा-कपड़े के थान को बुनता है तब एक-एक सूत कपड़े का छोर धीरे-धीरे निकट आता जाता है। काल का भी लेखा ऐसे ही है। वह भी सरकता हुआ धीरे-धीरे हमारे निकट आ रहा है और एक दिन बिलकुल निकट आकर हमें हमारे अपने माने हुए प्राणी-पदार्थों से सदा-सदा के लिए अलग कर देगा। इसलिए साहेब कहते हैं कि “दौड़ सके तो दौड़” अगर तुम दौड़ सको अपने मोक्षधाम की तरफ तो दौड़कर पहुंच जाओ।

किसी बाहरी जगह पर पहुँचने के लिए चलना पड़ता है लेकिन मोक्ष में पहुँचने के लिए चलना नहीं पड़ता है किंतु रुकना पड़ता है। साहेब ने कहा है—

दौड़त-दौड़त दौड़िया, जहं तक मन की दौड़।

दौड़ थका मन थिर भया, वस्तु ठौर कि ठौर

आपकी वस्तु जहां आप हैं वहीं है। वहीं आपका परम धाम है। आप स्वयं ही परम धाम हैं। परमात्मा, राम, ब्रह्म, खुदा, गॉड, ईश्वर, सत्य, मोक्षधाम, साकेत, परमसत्य, गोलोक, शिवलोक जो कुछ भी कह लो वह यह आत्मा ही है, इसके लिए तुम्हें कहीं बाहर जाना नहीं है। तुम्हें न तो परमात्मा पाना है और न मोक्ष पाना है बल्कि मन के जितने विकार हैं उनको निकालकर फेंक देना है और अपने आप में लौट आना है, स्थिर हो जाना है।

लोग कहते हैं कि परमात्मा मिल गया, ब्रह्म मिल गया, मोक्ष मिल गया तो उसमें वे परमात्मा का बाहर से मिलना मानते हैं। लेकिन यह परमात्मा का मिलना नहीं है किंतु भटकना है क्योंकि ये सभी बाहर की चीजें हैं और मन की कल्पनाएं हैं। यह वास्तविकता नहीं है। बाहर की चीजें मिलकर छूट जाती हैं। अगर मोक्ष या परमात्मा बाहर है तो वह मिलेगा और छूट जायेगा।

हमें ऐसा परमात्मा नहीं चाहिए जो उधारी के सौदा के समान मिले और छूट जाये। हमें तो ऐसा परमात्मा चाहिए जो कभी छूटे न। जो बिछुड़ा नहीं है वह परमात्मा तो अपने भीतर ही है। उसके मिलने की कोई बात ही नहीं है।

कस्तूरी कुण्डलि बसे, मृग दूँढे बन माहिं।

ऐसे घट घट राम है, दुनिया जानति नाहिं

कस्तूरी तो मृग की नाभि में ही बसती है लेकिन वह उसको अपनी नाभि में नहीं जानता है और जब उसकी सुगंधी उसे मिलती है तो वह उसे घास-फूसों में खोजता फिरता है। वह उसे खोजते-खोजते परेशान रहता है और उसे जीवन भर नहीं पाता है। यदि वह जान जाये कि कस्तूरी तो मेरी नाभि में ही है तब उसका भटकना बन्द हो जाये। जिसने अपने को पाया, जिसने

अपने को समझा और जो अपने में लौटा वही तृप्त हो गया। ध्यान यही है अपने में लौट आना।

कबीर साहेब जब बहुत बूढ़े हो चले थे तब की घटना है। माना जाता है कि एक सौ उन्नीस वर्ष सात माह और पच्चीस दिन संसार में रहकर छब्बीसवें दिन उन्होंने अपना शरीर छोड़ा था। जब उनकी जर्जर अवस्था थी तब लोग उनके पास आये और कहे कि साहेब आप एक नयी उलटवासी सुना दीजिए क्योंकि आपकी उलटवासियों में बड़ा रस मिलता है। तब उन्होंने सुनाया—

कबीर उलटा ज्ञान का, कहंतक करौं विचार।

बैठे से ही पथ कटे, चला चली नहीं पार

उन्होंने कहा कि उल्टे ज्ञान का, उल्टे विचार अर्थात् उलटवासी का मैं कहां तक विचार करूं। एक कह देता हूं कि बैठ जाओगे तो रास्ता कट जायेगा। चलते रहोगे तो पार नहीं पाओगे।

हम लोग जानते हैं कि बैठकर रास्ता नहीं कटता है किन्तु चलने से कटता है। संसार में ऐसे ही तो होता है कि किसी मंजिल पर लोग चलकर पहुंचते हैं लेकिन वह बाहर की मंजिल होती है। वह आपकी असली मंजिल नहीं होती है। जो आपकी असली मंजिल है जिस पर आप पहुंचना चाहते हैं वह चलकर नहीं मिलती है किंतु बैठने पर मिलती है। साहेब कहते हैं कि “बैठे से ही पथ कटे, चला चली नहीं पार” चलाचली का यहां अर्थ है—तृष्णा, वासना और सांसारिकता, जिसमें दौड़ते रहो-दौड़ते रहो किंतु पार नहीं पाओगे। दौड़ते रहने से लगता है कि हम पा रहे हैं लेकिन कुछ नहीं पाओगे। हमारे सब कुछ का खो जाना पक्का है। हमें इस स्थिति को निरंतर जागरूक होकर देखते रहना है। यही ध्यान-साधना का फल है और ध्यान के लिए जरूरी है शरीर का संयम, मन का संयम, वाणी का संयम और हल्का भोजन।

ध्यान की जो प्रक्रिया है उसमें पहले तो क्रियायोग है। जो क्रिया योग में सहायक हो उसको क्रियायोग कहते हैं। आदमी के मन में वृत्तियां उठती रहती हैं।

किसी मनुष्य के मिलने की याद आयी। यह एक वृत्ति हो गयी। कभी दो गाड़ियां लड़ गयीं थीं। वह घटना याद आ गयी तो यह एक वृत्ति हो गयी। बैल की याद आयी यह एक वृत्ति हो गयी। सड़क की याद आयी, एक वृत्ति हो गयी। बाहर कुछ याद आया तो वह एक वृत्ति बन गयी। इस प्रकार से हर समय आदमी के मन में वृत्तियां बनती और मिटती रहती हैं और उन्हीं में आदमी का मन चंचल बना रहता है। उन्हीं वृत्तियों को जब मिटा देंगे तब शांति मिलेगी। उसी के लिए ध्यान है।

ध्यान जब करें तब स्थिर होकर बैठें। आंखों को बन्द करें तो बन्द आंखों में जो दिखाई दे, उसी में अपने मन का निग्रह करें। इसको दृष्टियोग कहते हैं। दृष्टियोग में बन्द आंखों में अंधकार, प्रकाश, बदलते रंग आदि दिखाई दे सकते हैं। उन्हीं को देखते रहो। अपनी तरफ से कुछ भी कल्पना न करो और उसी में अपने मन को ठहराओ। यह ध्यान रहे कि मन किसी तरफ न जाये। यह दृष्टियोग है।

सांस अपने आप आती-जाती है। उस सांस पर आप अपना मन ठहरायें। आप केवल सांस का ही ख्याल रखें। इसको स्वरयोग कहते हैं। दृष्टियोग और स्वरयोग के अतिरिक्त नादयोग, बिन्दुयोग आदि और भी मन को ठहराने के लिए साधन हैं लेकिन मैं बहुत बातों को नहीं लाता हूँ। सामान्य साधकों के लिए मैं दृष्टियोग और स्वरयोग ही बताता हूँ। आंखें बन्द करें और बन्द आंखों में अंधकार, प्रकाश, बदलते रंग आदि आते हैं। कोई स्थिर होकर देखे तो उसमें विचित्र-विचित्र रंग भी दिखाई दे जाते हैं किंतु साधक यदि इधर-उधर की बात सोचेगा तो कुछ भी दिखाई नहीं देगा।

जो भ्रम में पड़े हैं वे लोग यह भी कह देते हैं कि आंखों में जो ज्योति दिखाई देती है वही परमात्मा है लेकिन वह परमात्मा क्या है, वह तो आंखों की गरमी है, नेत्र विकार है और मन को ठहराने के लिए एक खूटा है। दृष्टियोग में कोई एकाग्र हो जाये तो उसमें उसे एक चिनगारी जैसा दृश्य लगेगा। उसे मंदिर जैसा,

सड़क जैसा, बादल जैसा या कुहरा जैसा दृश्य लगेगा। अगर उसमें और एकाग्रता बढ़ी तो बड़ा आनन्द आयेगा और इधर-उधर मन नहीं जायेगा। यदि इधर-उधर मन भटकेगा तो यह सब दिखाई नहीं देगा।

मैंने अभी बताया कि जो सांस आती-जाती है उसी में भाव रखकर अपने मन को ठहराने को स्वरयोग कहा जाता है। जो पुराने साधक हैं वे न दृष्टियोग करेंगे और न स्वरयोग करेंगे। वे संकल्पों का त्याग करेंगे, द्रष्टाभ्यास करेंगे। संकल्पों का त्याग क्या है। जैसे कोई आदमी नदी के किनारे बैठा है और नदी की तरंगमालाओं को वह केवल देखता है, उसमें बहता नहीं है। ऐसे चित्त की वृत्ति को देखो, उसमें बहो न। चित्त और चित्त की वृत्ति वैसी है जैसा समुद्र और उसकी तरंग। वृत्ति कहते हैं एक लपेट को। तरंग भी एक लपेट है। पानी की जैसे एक तरंग होती है इसी प्रकार सोचने की एक लपेट है, एक वृत्ति है। इस प्रकार अनेक वृत्तियां आती-जाती रहती हैं। इन वृत्तियों को देख-देखकर शांत कर देना द्रष्टा अभ्यास है।

द्रष्टा अभ्यास में वृत्तियों को छोड़ा जाता है। जो कुछ याद आता है उसको पकड़ा नहीं जाता है किंतु उसको छोड़ा जाता है। जैसे कोई नदी के तट पर बैठा है और नदी की तरंगमाला आ और जा रही है। वह उसे ही देखता है, उसमें मिलता नहीं है। ऐसे ही चित्त की कोई वृत्ति आती है तो उसमें मिलना नहीं है। कुछ वृत्ति आयी और गयी। उसको केवल देखते रहना है उसमें मिलना नहीं है। अगर उसमें मिल जाओगे तब वह आकर जायेगी नहीं और उसमें आप डूब जाओगे। अभ्यास काल में ऐसा भी हो सकता है कि ध्यान में आप बैठे हो लेकिन आपका मन बाजार चला गया और वहां सौदा खरीदने लगा तो उसी में बहते रहोगे और पता नहीं कहां-कहां बहते रहोगे और ध्यान नहीं होगा लेकिन वृत्ति को छोड़ दोगे तो नहीं बहोगे। इसलिए वृत्ति को छोड़ना है।

वृत्ति को कैसे छोड़ना है। उसका तरीका यह है कि जो याद आये, जब वृत्ति उठे, उसमें उदास हो जाओ।

जैसे कोई आदमी आपके पास आया और आप उससे नहीं बोले तो वह चला जायेगा। उसी प्रकार वृत्तियां भी आयें तो उनको आदर न दो। उनमें अपना बल न दो तो वे सब अपने आप शांत हो जायेंगी। यही द्रष्टा अभ्यास है। यही साक्षी अभ्यास है और यह साधना का राजमार्ग है।

द्रष्टाभ्यास और साक्षी अभ्यास करते-करते जब वृत्तियों का आना ही बन्द हो जाता है जब वृत्तियां शांत हो जाती हैं तब की जो दशा होती है वही स्थिति है। उसके आगे और कुछ नहीं है। उसको पाकर फिर कहीं न आना है और न जाना है। वृत्तियों के शांत हो जाने पर आना-जाना और भटकना बन्द हो जाता है। तब मन अपने आप शांत हो जाता है।

यह बात कबीर साहेब के विचार से भी है और उपनिषदों के विचार से भी है। यह बात संतों के विचार से भी है और सूफी संतों के विचार से भी है। यह बात सांख्ययोग के विचार से भी है तथा जैन और बौद्धों के विचार से भी है। जितने विवेक प्रधान मत हैं उन सबके विचार से यह प्रमाणित है। चित्तवृत्ति का एकदम शांत हो जाना समाधि है। योगदर्शन में पतंजलि महाराज ने कहा है—“योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।” अर्थ है—वृत्ति का निरोध हो जाना, वृत्ति का शमन हो जाना योग है। चित्त की वृत्तियों का शमन हो जाना, स्मृतियों का शमन हो जाना ही योग है और ध्यान है।

यही साहेब का सहज ध्यान और सहज समाधि है। यही जैनियों और योगियों का कैवल्य है। यही तथागत बुद्ध का निर्वाण है। निर्वाण और परिनिर्वाण—ये दो शब्द हैं। देह में रहते-रहते वासना का त्याग निर्वाण है और वासनाहीन आत्मा जब शरीर छोड़ दिया तो परिनिर्वाण है। यही सूफियों के शब्दों में हकबीनी है। यही वेदान्तियों की भाषा में अद्वैत स्थिति है। यही स्थिति आपकी असली मंजिल है। इसके नाम अनेक हैं लेकिन सब बात एक है।

कुछ लोग कहते हैं कि चित्तवृत्ति के शांत हो जाने के बाद भी कुछ पद तो चाहिए ही जहां जाकर रुका जाये लेकिन यह रसिक लोगों की कल्पना भर है और

कुछ नहीं है। लोग भगवान का लाल-पीला, हाथ-पैरवाला रूप और चमकते-दमकते लोक-लोकान्तर की कल्पना करते हैं लेकिन यह बकवास है और घूमकर फिर उसी संसार में आ जाना है। नाना ग्रंथों में वह सब लिखा है और उसी को पढ़-पढ़कर लोग भटके हुए हैं। अंतिम मंजिल है चित्त का शांत हो जाना। चित्त शांत हो गया, तो समझ लो कि काम बन गया। चित्त से जगत का संबन्ध था। वह जब कट गया तो आत्मा अपने आप रह गया, असंग हो गया। आजकल में ऐसा होना है।

माया की चाहे जितनी गर्मी हो, सब झूठ है और सब का मिट जाना तय है। देखो, यहां मेरे पास इतना बड़ा आश्रम है, बहुत-से साधु-संत हैं और भक्त हैं। लेकिन जब मैं सो जाऊंगा तो मुझे अपने शरीर का ही पता नहीं रहेगा।

अभी रात में मेरा शरीर छूट जाये तो कल सुबह इसको दफनाना पड़ेगा और हमें कभी भी यहां का और पूरी दुनिया का पता न होगा। वह स्थिति मेरे सामने आने वाली है। केवल मेरे सामने ही नहीं किंतु सबके सामने आने वाली है। उम्र का कुछ भी इत्मीनान नहीं है।

मौत के सामने उम्र का कोई महत्त्व नहीं है, कोई लिहाज नहीं है। पता नहीं कब झट से कौन मौत के मुंह में समा जाये। इसलिए कहता हूं कि मौत के सामने कौन बालक है, कौन जवान है और कौन वृद्ध है इसका कोई महत्त्व नहीं है। वह सबको धर दबोचती है। यहां किसी का कोई ठिकाना नहीं है। साहेब कहते हैं—“करो रे मन वा दिन की तदबीर। जब यमराजा आनि पड़ेंगे, नेक धरत नहिं धीर।” यमराजा कब आ जायें इसका कोई ठिकाना नहीं है। इसलिए सावधान हो जाओ और उस स्थिति के लिए हमेशा तैयार रहो। अंतिम स्थिति को प्राप्त करने के लिए ही ध्यान का अभ्यास कराया जाता है। देह में रहते-रहते विदेह स्थिति का अनुभव करो और संकल्पों पर विजयी होओ।

मैं कह रहा था कि नये साधक दृष्टियोग, स्वरयोग कोई भी साधन करें और जो पुराने साधक द्रष्टा अभ्यास

करते हों वे द्रष्टा अभ्यास करें लेकिन सभी साधक नियमों का पालन करें। ध्यान का फल है कि इसी जीवन में शोक-मोह से मुक्त हो जाना। चित्त के क्लेशों का समाप्त हो जाना ही ध्यान है। कोई क्लेश यदि चित्त में नहीं है तो यही ध्यान का फल है। जीवन के अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करने का यह महा अभियान है। धन से, विद्या से, कीर्ति से, जगत की प्रसिद्धि से यह होने वाला नहीं है बल्कि इन सबसे तो वह स्थिति और ही दूर होगी। ये सब चीजें हमें मिलीं और हम यदि सावधान न रहें तो ये सब हमें अपने लक्ष्य से दूर ही करेंगी।

इन सबके रहते हुए भी हम जब इन चीजों को व्यर्थ समझेंगे और असली लक्ष्य को समझेंगे और उस दशा में टिकेंगे तब यह दशा आयेगी। जीवन का अंतिम लक्ष्य है कल्याण, अर्थात् शोक से मुक्त हो जाना।

इस जीवन में, इस देह में रहकर विदेह अवस्था को प्राप्त करने के लिए ध्यान एक अभ्यास है, जीते-जीते मरने का एक अभ्यास है। हम जाग्रत अवस्था में हैं, देह में हैं लेकिन सबको भूलकर एकाग्र हो जाना है। पहले एकाग्रता का अभ्यास करना है फिर वृत्ति को शून्य करके सहज दशा में टिक जाना है। नये-पुराने सभी साधक जिनकी जितनी शक्ति है, वे सब अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार ही कुछ कर सकते हैं।

सभी साधक सात-आठ दिनों तक सात्त्विक भोजन करेंगे, सात्त्विक वातावरण में रहेंगे, विचार सुनेंगे, जो बन सकेगा ध्यान करेंगे। जिनको ध्यान बहुत नहीं लगेगा उनको भी कुछ अभ्यास तो होगा ही और कुछ लाभ तो होगा ही। सब मिलाकर कहा जाये तो अगर आप अपने मन को श्रद्धा-भक्तिपूर्वक रखकर रहेंगे तो जिसकी जैसी योग्यता है, वैसा लाभ उसको मिलेगा और सबको लाभ मिलेगा।

किसी को भी एक दिन में सिद्धि नहीं मिलती। करते-करते ही सिद्धि मिलती है। जिनको सिद्धि मिली है उनको अभ्यास करते-करते ही मिली है। सिद्धि का मतलब है निष्काम अवस्था की प्राप्ति, पूर्ण तृप्ति की प्राप्ति। सिद्धि का यह मतलब नहीं कि आकाश में उड़ने लगना। वह सब तो कुछ होना नहीं है।

पूर्ण कृतार्थ अवस्था एकबारगी नहीं आती, धीरे-धीरे आती है। इसलिए किसी को घबराना नहीं चाहिए। देखो, साधारण नौकरी पाने के लिए भी लोगों को अपनी आधी जिंदगी तक पढ़ना पड़ता है और प्रेक्टिस करना पड़ता है तब कहीं रोटी का प्रबन्ध हो पाता है लेकिन कल्याण का काम लोग खड़े-खड़े सुनकर पूरा सिद्ध कर लेना चाहते हैं। लेकिन ऐसे कैसे हो जायेगा? पहले इसमें वे प्रवेश करें और साधना में मन लगायें तब धीरे-धीरे उनको वह स्थिति मिलेगी।

एकाग्रता और चित्त की शून्यता ध्यान की ये दो दशायें मैंने बतायीं। जो नये साधक हैं वे एक आधार बिन्दु में अपने मन को एकाग्र करें और एकाग्रता के आगे अभ्यास करते-करते अपनी वृत्तियों को एकदम शांत कर देना है और यह भी हो जायेगा। चित्त की वृत्तियों का एकदम शून्य हो जाना ध्यान का अर्थ है। मैंने आपके सामने ध्यान पर भूमिका के रूप में कुछ निवेदन किया। आज इतनी बात के साथ मैं अपनी वाणी को विराम देता हूँ।

जब जब मैं इस जग में आया

रचयिता—डॉ. अमृत सिंह

जब जब मैं इस जग में आया,
ये जग मुझको लगा पराया।

करी अर्चना मंदिर में नित,
लेकिन वहां भगवान न पाया।
भटका मैं कितने दिन वन वन,
पता न फिर भी उसका पाया।

अम्बर का देखा अंत नहीं,
सागर की मैं थाह न पाया।
रंग बदलते गिरगिट देखा,
प्रतिरूप उसी का मानव पाया।

गया, द्वारका, मथुरा काशी,
हर संन्यासी भटका पाया।
देखे अनगिनत विषधर लेकिन,
मानव से बड़ा न विषधर पाया।